अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र

सर्वोदय जगत

वर्ष : 44, संयुक्तांक : 14-15, 1-31 मार्च 2021

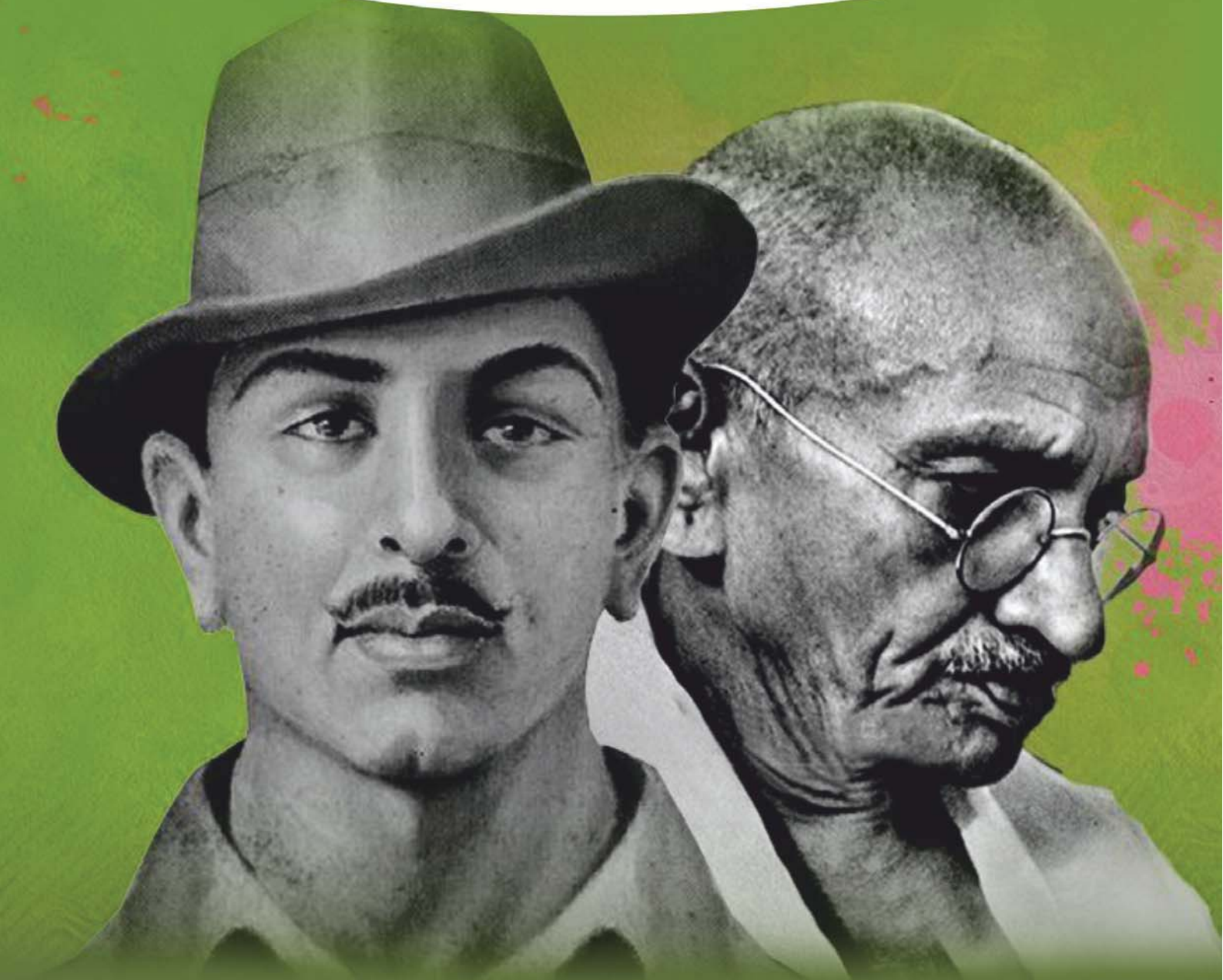

भगत सिंह और उनके दो साथी फांसी पर चढ़ गए। उनकी देह को बचाने के बहुतेरे प्रयत्न किए गए, कुछ आशा भी बंधी, पर वह व्यर्थ हुई ... भगत सिंह अहिंसा के पुजारी नहीं थे, लेकिन वे हिंसा को भी धर्म नहीं मानते थे।

- भगत सिंह को श्रद्धांजलि देते हुए महात्मा गांधी
29 मार्च 1931- नवजीवन (गुजराती)

सर्व सेवा संघ
(अखिल भारत सर्वोदय मंडल)
द्वारा प्रकाशित
अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र
सर्वोदय जगत
सत्य, अहिंसा एवं सर्वोदय-सम्पूर्ण क्रांति का संदेश वाहक
वर्ष : 44, संयुक्तांक : 14-15,1-31 मार्च 2021

अध्यक्ष
चंदन पाल

संपादक
बिमल कुमार
सहसंपादक
प्रेम प्रकाश
09453219994

संपादक मंडल
डॉ. रामजी सिंह **अरविन्द अंजुम**
प्रो. सोमनाथ रोडे **अशोक मोती**

संपादकीय कार्यालय
सर्व सेवा संघ
राजघाट, वाराणसी-221001 (उ.प्र.)
फोन : 0542-2440-385/223
ईमेल : sarvodayajagat@gmail.com
Website : sssprakashan.com

शुल्क

एक प्रति	:	05 रुपये
वार्षिक	:	100 रुपये
आजीवन	:	1000 रुपये

खाता संख्या : 383502010004310
IFSC Code : UBIN0538353
Union Bank of India
Rajghat, Varanasi

इस अंक में...

1. संपादकीय... 2
2. स्त्री-शक्ति का आशय... 3
3. परिवार, महिलाएं और बाजार... 4
4. 'नारी सामर्थ्य के स्मरण का दिन है'!... 5
5. धर्म की आड़... 6
6. सरदार भगत सिंह और महात्मा गांधी... 8
7. युवाओं को क्रांति के लिए नेहरू के... 9
8. गांधी और भगत सिंह... 10
9. प्यार तेरा पानियों सा बहता रहे... 12
10. साम्प्रदायिकता ही देशद्रोह है... 13
11. साम्प्रदायिकता की समस्या और... 14
12. कैसे रुके वर्चस्व का खेल!... 17
13. चुनाव आयोग शायद भूल गया, कभी... 18
14. क्या देश को वाकई एक नये संसद... 21
15. भारत में शोषक-वर्ग... 22
16. जनादेश प्रभावित करने के लिए... 23
17. लोग बुद्धिजीवियों से इतनी... 24
18. वह निरंकुश तानाशाह, जो अल्कोहल... 26
19. न खेत, न किसान फिर भी... 29
20. दरकते पहाड़ों की अकथनीय... 30
21. गांव की प्रेम पाती अपने चाहने वालों... 31
22. गांधी ने उस फौजी अभियान का... 33
23. जब हिन्दू चाय और मुस्लिम चाय की... 34
24. दुनिया वालों से कह दो कि गांधी... 35
25. महात्मा गांधी और आंबेडकर ने... 36
26. आर्थिक मानव खंड दर्शन का... 37
27. गतिविधियां एवं समाचार... 39
28. कविताएं... 40

संपादकीय

समदृष्टि एवं स्त्री स्वायत्तता

क्या किसी बलात्कार के आरोपी से यह पूछा जाना चाहिए कि क्या वह पीड़िता के साथ विवाह करने को तैयार है? विशेषकर इस प्रश्न को इस रूप में नहीं देखना चाहिए कि इससे पीड़िता को राहत मिलेगी या नहीं। न ही इस रूप में देखना चाहिए कि आरोपी जेल जाने से या नौकरी से बर्खास्त होने के खतरे से बच जायेगा। यदि पीड़िता नाबालिग है, तो किसी भी प्रकार का तर्क आरोपी की रक्षा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।

निर्भया कांड के बाद एक बड़ा जन उबाल आया था। कुछ कानून कानून में भी सख्ती करने का दावा किया गया था। किन्तु नाबालिग बच्चियों के यौन-शोषण की घटनाएं बढ़ती ही जा रही हैं। सबसे दुखद बात यह है कि सोशल मीडिया में, जाति व धर्म के आधार पर बलात्कारियों के प्रति सहानुभूति की लहर भी दिखायी देती है। जो शक्तिशाली और प्रभावशाली हैं, वे पीड़िता के परिवार को इस हद तक यंत्रणा देते हैं कि पीड़िता के परिवार वाले यही बेहतर समझने लगते हैं कि इस मुद्दे को आगे न बढ़ाया जाये। यदि एक पीड़िता के भाई, पिता, मां आदि की हत्या हो जाती है तो सैकड़ों पीड़िताओं के परिवार के लोग मुद्दे को आगे बढ़ाने से डरने लगते हैं। समाज और प्रशासन भी डराता है। महिला सुरक्षा कानून वहीं सक्रियता से लागू होते दीखते हैं, जहां पीड़िता के पीछे प्रभावशाली व ताकतवर शक्तियां (मुख्यतः पुरुष) खड़ी होती हैं।

पुरुष वर्चस्ववादी समाज, आमतौर पर स्त्रियों के व्यक्तित्व के विकास का भी विरोधी होता है, इसलिए वह संस्कृति एवं संस्कार के नाम पर अजीब तरह के तर्क गढ़ लेता है। लड़कियां लड़कों से बात न करें, कैसे कपड़े पहनें, घर से कब निकलें, किन प्रतिबंधों में रहें, ऐसी बातें सहज रूप से करता है, लेकिन दहेज मांगने में 'बेशर्मी' की हदें पार कर जाता है।

महिला को सहज स्वाभाविक स्थान दिलाने का काम केवल किसी घटना पर प्रतिक्रिया देने मात्र की औपचारिकता से आगे बढ़ने वाला नहीं है। इसे एक नये समाज के निर्माण की लंबी लड़ाई का हिस्सा बनाना होगा। इस लड़ाई में महिलाओं की बराबर की हिस्सेदारी होनी होगी। इस बात को इसी से समझें कि महिला किसान भी हैं, किन्तु पुरुषवादी न्याय चेतना का प्रतिनिधि, किसान आंदोलन में महिला किसानों की भागीदारी का भी विरोधी है।

स्त्री के गुणों का बड़ा गुणगान है। अहिंसक समाज के निर्माण के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, जैसे प्रेम, करुणा, सेवा, त्याग व कष्ट सहन की क्षमता, ये सब गुण स्त्रियों में सहज रूप से होते हैं। किन्तु पुरुष वर्चस्ववादी संस्कृति, इन गुणों को पुरुष के अहंकारवादी व हिंसावादी वर्चस्व व शासन के अंतर्गत रखना चाहती है। प्रेम आदि का गुण हिंसा व दमन की शक्तियों के नियंत्रण में रहे, यही स्त्री गुणों के गुणगान के मूल में है। ऐसे में स्त्री को मानवीय गुणों वाली शक्ति को बरकरार रखते हुए खुद को उसे हिंसा के वर्चस्व से मुक्त करना होगा। यह तभी होगा, जब वह नये समाज के निर्माण के संघर्ष में बराबर की भागीदारी करे। प्रेम, करुणा, सेवा, त्याग, कष्ट सहन आदि गुण स्वायत्त नहीं होंगे तो वे गुलामी का आभूषण बन कर रह जायेंगी।

यह समझना जरूरी है कि किसी भी स्त्री की, एक व्यक्ति के रूप में एक स्वायत्त चेतना भी होती है। पुरुष वर्चस्ववादी समाज स्त्री की इस स्वायत्त चेतना को निरंतर कुंठित करने का प्रयास करता रहता है। ऐसे समाज में स्त्री को पुरुष की श्रेष्ठता व केन्द्रीयता को स्वीकार करने के लिए सांस्कृतिक रूप से विवश किया जाता रहा है। पुरुष से स्वतंत्र स्त्री का स्वायत्त जीवन इस संस्कृति को स्वीकार नहीं है। नये समाज का निर्माण तभी होगा, जब स्त्री की स्वायत्त चेतना को स्वीकार करने वाली संस्कृति का निर्माण हो। पुरुष का साथ जीवन में सहयात्री के रूप में हो सकता है, लेकिन इसमें पुरुष की श्रेष्ठता व केन्द्रीयता का अस्वीकार होना होगा।

स्त्री मुक्ति का आंदोलन समस्त मानव जाति की मुक्ति का आंदोलन बने और जितने तरह के शोषण हैं, उन सबसे मुक्ति के संघर्ष में स्त्री बराबरी की भागीदार बने, यह सभी परिवर्तनकारी समूहों को सुनिश्चित करना होगा।-**बिमल कुमार**

अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस

स्त्री-शक्ति का आशय

❑ आचार्य विनोबा

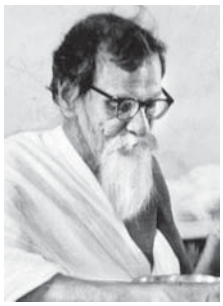

संस्कृत में स्त्री के लिए बहुत शब्द है। उनमें से एक है अबला और दूसरा है महिला। अबला के माने हैं दुर्बल, जिसकी रक्षा दूसरों को करनी पड़ेगी, रक्षणीय और महिला का अर्थ होता है महान, बहुत बड़ी ताकत वाली। इतना उन्नत शब्द, दुनिया की जितनी भाषाओं का मुझे ज्ञान है, करीब-करीब 20-25 भाषाओं का, उनमें किसी में मिला नहीं। इधर अबला भी कहा और उधर महिला भी कहा। मैं पूरे हिंदुस्तान भर घूमा हूं, पर मैंने अबला समिति कहीं देखी नहीं, महिला समिति देखी है। बहनों ने परीक्षा की और महिला शब्द चुन लिया। मतलब स्त्रियों ने तय किया कि हमारी महान शक्ति है, अल्प शक्ति नहीं। महिला शब्द ही बताता है कि स्त्री के बारे में भारत की क्या राय है और क्या अपेक्षा है।

दूसरी बात स्त्री स्तृ धातु से बना है। स्तृ का अर्थ है विस्तार करना, फैलाना। स्त्री यानी फैलाने वाली—प्रेम को कुल दुनिया में फैलाने वाली। स्त्री शब्द में स्त्री का कार्य सूचित किया गया है। प्रेम का विस्तार, प्रेम की व्यापकता स्त्री द्वारा होगी। स्त्री समाज का तारण करने वाली तारणी शक्ति है।

समाज की गलत दृष्टि

स्त्री की इतनी शक्ति होने पर भी समाज स्त्री की तरफ किस दृष्टि से देखता है? आज संसार में और परमार्थ में दोनों में स्त्री टारगेट बनी है। मध्य बिंदु में है। सांसारिकों के लिए यह भोग का लक्ष्य बनी। सारा साहित्य, सारी कला, सारे रस उसी के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं। दूसरी ओर परमार्थियों ने उसे लक्ष्य बनाया वैराग्य का। उसे बंधन में डालने वाली माना और इसलिए उसके प्रति घृणा, तिरस्कार रखा यहां तक कि उनकी तरफ देखना भी गलत माना।

एक दफा मीराबाई वृंदावन गई थीं। वहां एक संत पुरुष थे, जिनका बहुत बोलबाला था। मीराबाई ने उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की। उन्हें लगा कि सन्यासी का दर्शन होगा तो कुछ बोध प्राप्ति का मौका मिलेगा। लेकिन जब संन्यासी से पूछा गया तब जवाब मिला कि स्वामी महाराज स्त्रियों का मुख दर्शन नहीं करते। यह सुनकर मीराबाई ने एक भजन लिखा।

हुं तो जाणती हती के ब्रजमां पुरुष थे एक।
ब्रजमां राहीने पुरुष रह्मा भलो तमारो विवेक।।

इसमें एक विनोद भरा उपालंभ है कि ब्रज में रहकर भी आपका पुरुषत्व का अहंकार गया नहीं। ब्रज में पुरुष तो एक ही है और जो लोग ब्रज में आते हैं वह स्त्रीत्व, पुरुषत्व का अहंकार छोड़कर उसकी उपासना करते हैं।

वास्तव में होना तो यह चाहिए कि ब्रह्मचारी के सामने कोई स्त्री आती है तो वह अपने को ज्यादा पवित्र और सुरक्षित महसूस करे। मेरा अपना तो यह अनुभव है कि जब सामने कोई स्त्री आती है, तब लगता है कि मेरी माता ही आ गई। इसलिए मुझे अधिक सुरक्षा मालूम होती, क्योंकि माता पास खड़ी हो तो हम गलत काम करते नहीं। स्त्री के सान्निध्य में तो अधिक सुरक्षित महसूस होना चाहिए। परंतु ब्रह्मचारी संन्यासी को स्त्री के संपर्क से बचना चाहिए, यह एक गलत ख्याल बन गया। इस तरह स्त्री संसार के लिए आसक्ति का और परमार्थियों के लिए विरक्ति का विषय बन गया।

यह सारा इसलिए हुआ कि इस जमाने में सारी ब्रह्मविद्या पुरुषों के द्वारा आगे आई। बड़े-बड़े आचार्य, महापुरुष अधिकतर पुरुष ही हुए। ब्रह्मविद्या की गर्जना करने वाली स्त्री इस जमाने में निकलीं नहीं। कुछ भक्त स्त्रियां निकलीं, लेकिन भक्त होना एक बात है और दुनिया में जाकर अपनी विचार निष्ठा से शेर के समान गर्जना करना दूसरी बात है। भक्तों के मन में भावना बहुत होती है। उसे स्वप्न में दर्शन भी हो सकता है। लेकिन उसमें क्रांति की शक्ति होती ही है, ऐसा नहीं। मीराबाई कवयित्री थी, इसलिए उसका समाज पर असर हुआ। अन्यथा आमतौर पर ये लोग एकांत प्रिय होते हैं, समाज से दूर रहने वाले होते हैं। होना चाहिए सूर्य नारायण की तरह। सूर्यनारायण को कहीं भी डर नहीं। गुहा में प्रवेश करने के लिए वह डरेगा नहीं और उसके सामने अंधेरा टिकेगा नहीं। सामाजिक आक्रमण का सामना करने की शक्ति स्त्रियों में जगनी चाहिए और जग भी रही है। लेकिन ब्रह्मविद्या (आत्मज्ञान) की लगन से बहने सामने आई हैं, ऐसा अभी तक बना नहीं।

मैंने तो मान लिया है की स्त्री की दुर्दशा का सारा जिम्मा पुरुषों पर है। मैं तो पुरुष के नाते सारा का सारा जिम्मा उठाने की इच्छा करूंगा। लेकिन इच्छा करने पर भी वह हो नहीं सकेगा। क्योंकि दो चेतन वस्तुओं में होने वाले परिणामों का जिम्मा एक पर नहीं डाला जा सकता। अगर मैं स्त्री होता तो सहसा सब पुरुषों को मुक्त कर देता और कहता कि यह सारी जिम्मेदारी मेरी है। अगर मैं जड़ होता, स्त्री या पुरुष की तरह चेतन नहीं होता, तो चुप रहता। चूंकि चेतन हूं, इसलिए अपनी सारी की सारी जिम्मेदारी दूसरों पर डालना कैसे पसंद करूंगा। स्त्रियां खुद आगे आएंगी, तभी उनकी शक्ति जाग सकेगी।

वास्तव में शक्ति का जो मूल स्रोत है, वह न स्त्री शरीर में है, न पुरुष शरीर में है। वह अंतरात्मा में है। आत्मा स्त्री-पुरुष भेद रहित है। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। परंतु मनुष्य को भान होता है कि शक्ति हाथ में है, पांव में है, आंख में है। जब तक आत्मशक्ति का भान नहीं होता, तब तक हम लोग अपनी मूल शक्ति को छोड़कर उसके प्रतिबंध को ही पकड़ कर रखते हैं। हाथ, पांव, आंख और कान में जो शक्ति है, वह तो अंदर की किसी चीज के साथ उसका संबंध होने से है। वह चीज केवल शरीर नहीं है। वह चीज तो आत्मा की शक्ति है। वह आत्म- शक्ति हाथ-पांव और कान द्वारा प्रकट होती है, इसलिए जब आत्मशक्ति का भान होता है, तब न किसी प्रकार का मोह होता है न भय होता है। आत्मशक्ति का भान होते ही मनुष्य पर और कोई सत्ता चल नहीं सकती। उसको परिपूर्ण स्वतंत्र प्राप्त हो जाती है।

शंकराचार्य जैसी स्त्री निकले

इसलिए मैं चाहता हूं कि भारत की स्त्रियां आत्मशक्ति का भान रखकर सामने आएं। भविष्य में स्त्रियों के हाथ में समाज का अंकुश आने वाला है। उसके लिए स्त्रियों को तैयार होना पड़ेगा। ज्ञान-वैराग्य संपन्न भक्तिमान और निष्ठावान स्त्रियां निकलेंगी, धर्म पर उनका प्रभाव होगा, तभी उनका उद्धार होगा। जब तक शंकराचार्य के समान प्रखर वैराग्यसंपन्न और ज्ञानी स्त्रियां पैदा नहीं होतीं, तब तक स्त्रियों का उद्धार श्री कृष्ण, महावीर और गांधी जैसे पुरुष भी नहीं कर सकते। कुछ हद तक मदद की जा सकती, परंतु स्त्रियों का उद्धार स्त्रियों से ही होने वाला है। वैराग्यशील और ज्ञान का प्रचार

करने वाली बहन, जिनसे शास्त्र बन सकता है, धर्म बदल सकता है, क्यों न निकले यह मेरी समझ में नहीं आता। अगर मैं स्त्री होता तो न जाने कितनी बगावत करता। मैं तो चाहता हूं कि स्त्रियों की तरफ से बगावत हो। लेकिन बगावत तो वह स्त्री कर सकेगी, जो वैराग्य की मूर्ति होगी। वैरागवृति प्रकट होगी तभी तो मातृत्व सिद्ध होगा। इसलिए मैं मानता हूं कि शंकराचार्य जैसी तेजस्वी स्त्री प्रकट होगी, तभी स्त्रियों का उद्धार होगा। स्त्रियां स्वतंत्रता चाहती हैं तो उन्हें वासना के बहाव में बहना नहीं चाहिए।

बगावत करने की विधि को अविनयशील मानने की जरूरत नहीं। बागावत की वृत्ति और विनयशीलता में कोई विरोध नहीं। विनयशीलता से तो बगावत बलवान बनती है। समझ बूझ कर उचित समझकर किसी उचित आज्ञा को मानना विनयशीलता है, अनुचित आज्ञा को न मानना बगावत है और विनयपूर्वक वह हो सकती है।

बगावत का स्वरूप

पूरी दुनिया में बहनों के बारे में समाज में कुछ पाबंदियां रखी हैं, उसके खिलाफ बहनें आंदोलन करें तो बहनों को अपनी योग्यता की प्राप्ति होगी। लेकिन वह एंटीथिसिस (प्रतिवाद) होगा। दुनिया में कोई गलत विचार चला, पुरुषत्व के अभिमान के सामने स्त्रीत्व का अभिमान खड़ा हुआ तो वह एक रिऐक्शन (प्रतिक्रिया) है। उससे पुरुष के पुरुषत्व के अभिमान में जो दोष गए हैं, वही दोष स्त्री के स्त्रीत्व के अभिमान में आएंगे। पेंडुलम कभी इधर जाएगा, कभी उधर जाएगा। उससे जीवन का शुद्धिकरण नहीं होगा। तो फिर क्या करना चाहिए?

ऐसी बहनें और ऐसे भाई निकलने चाहिए जो स्त्रीत्व पुरुषत्व के अभिमान से रहित हों, तभी उसका हल होगा। पुरुष में पुरुषत्व का अभिमान न हो, स्त्री में स्त्रीत्व का अभिमान न हो। मैं अभिमान शब्द संस्कृत के अर्थ में इस्तेमाल कर रहा हूं। संस्कृत में वह विशेष अर्थ में प्रयुक्त है। अभिमान न होना यानी भान न होना। मैं स्त्री हूं, मैं पुरुष हूं, यह भान ही न हो। जो स्त्री-पुरुष ऐसे होंगे वहीं इसका उपाय ढूंढ़ेंगे। यीशु मसीह की भाषा में कहना हो तो जो भगवान के लिए नपुंसक बना होगा, उसी के लिए ऐसा होना संभव है। ईसा मसीह ने बड़ा विलक्षण शब्द इस्तेमाल किया। स्त्री-पुरुष दोनों को लागू होने वाला यह शब्द है। अगर ऐसा नपुंसकत्व (स्त्रीत्व, पुरुषत्व का भान न होना) समाज में रूढ़ होगा, तो समाज में स्त्रियों के प्रति जो गलत धारणा रूढ़ हो गई है, उसका निरसन हो सकता है।

'स्त्री-शक्ति' पुस्तक से साभार
सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी

परिवार, महिलाएं और बाजार

❑ डॉ. सरिता

समाज को सुव्यवस्थित व अनुशासित करने के लिए परिवार संस्था विकसित हुई। इस संस्था को सुदृढ़ बनाने में महिलाओं की भूमिका नगण्य है। परिवार के बदलते खांचे पर आपका ध्यान खींचना चाहती हूं, जिसमें महिलाएं सबसे ज्यादा प्रभावित होती हैं। तकनीकी के कारण समाज की व्यवस्था व संस्कृति बदल रही है। जिसमें पहला प्रहार पारिवारिक संस्था पर पड़ते हुए दिख रहा है। आने वाले कुछ सालों में तकनीकी के कारण परिवार और बिखरेंगे। जैसे-जैसे मोबाइल में सुविधाएं बढ़ेंगी, वैसे-वैसे घरों की दीवारों में दरारें पड़ेगी। नजदीकियां भी दूरियों में तब्दील होंगी। परिवार का प्रेम और विश्वास सन्देह में तब्दील हो रहा है। भूकम्प की तरह सब कुछ क्षण भर में अविश्वास के ढेर में ढह जायेगा। रिश्तों का जुड़ना और बिखरना पड़ोसी भी नहीं जान पायेंगे। अभी तो पति या पत्नी पर शक की गुंजाइश में सच जानने की कोशिश की जाती है, लेकिन आने वाले बरसों में मोबाइल की तरंगों की स्पीड के आगे रिश्तों के कोई मायने नहीं रह जायेंगे। मोबाइल में आने वाला लोकेशन विश्वास की जड़ को हिलाकर रख देगा। उसके बाद बिखरने का सिलसिला जब शुरू होगा तो जुड़ने का नाम नहीं लेगा। तलाक के मामले बढ़ रहे है। अधिकांशतः देखने को मिल रहा है कि तलाकशुदा परित्यक्त या परित्यक्ता स्त्री अपने बच्चों के पालन-पोषण में जीवन व्यतीत करने लगती है, जबकि पति पुनः विवाह करके वैवाहिक सुख भोग करता है, यहां भी औरत पर टूटे घर की कंक्रीट की चोट पड़ती है। बदलते जीवन मूल्यों के दौर में हमेशा महिलायें सबसे ज्यादा प्रभावित होती हैं।

बाजार ने भी महिलाओं के साथ क्रूरता के साथ व्यवहार किया है। महिला को वस्तु की तरह बाजार में परोसा जा रहा है। आखिर ऐसा क्यों? क्या अर्थव्यवस्था का विकास औरतों के प्रचार के बिना सम्भव नहीं हो सकता? बाजार ऐसी संस्कृति को बढ़ावा देना चाहता है, जहां औरत का हुनर उसके बौद्धिक स्तर से नहीं, उसकी देह के आकर्षण से आंका जाता है। वह घर से लेकर बाजार तक किसी न किसी रूप में शोषित है। घर के आंगन में ही उसे दबोचकर चुप्पी संस्कृति का पाठ मर्यादा के नाम पर एबीसीडी की तरह रटा दिया जाता है, जबकि महिलाएं सामाजिक, राजनीतिक, लोक सेवक, अन्तरिक्ष और सेना जैसे क्षेत्र में भी खुद को सिद्ध कर चुकी हैं, लेकिन उनके प्रति समाज की सोच अभी भी बहुत सकारात्मक नहीं है।

महिलाओं को अब कुछ अलग हटकर सोचना होगा। श्रृंगार-फैशन के वाह्य आडम्बर से भी दूर होना होगा। असल ज्ञान को समझना होगा तभी हम बाजार की चमक-दमक से बच सकते हैं, वर्ना यूं ही हम बाजार की वस्तु बने रह जायेंगे। बालिकाओं को अपने असल अस्तित्व को बनाये रखने के लिए संघर्ष करना होगा, बौद्धिक बनना होगा। स्थायित्व और अस्तित्व की सुरक्षा पर भी महिलाओं को मन्थन करना होगा। 'कुछ पैसे' कमाने का शौक खतरनाक है। यह महिलाओं को दिन ब दिन गर्त की ओर ले जा रहा है। मंजिल बहुत दूर नहीं, तो बहुत करीब भी नहीं हैं। इस पर गम्भीरता से बिन्दुवार सोचना होगा। महिलाओं को सबसे पहले निर्भीक बनना होगा। अपने मन में बैठा भय हटाना होगा। अन्दर की सुप्त चेतना को जागृत करना होगा, तभी वह खुद को घर और बाहर के शोषण से बचा सकती हैं।

महिलाएं कितनी सशक्त हैं और कितनी थीं, इसका साक्षी पूरा इतिहास है। वैदिक सभ्यता से लेकर स्वतन्त्रता आन्दोलन तक में उन्होंने घर और बाहर रहकर खुद के अस्तित्व को सिद्ध किया है। इस बदलते समय में महिलाओं को अपनी अस्मिता को कायम रखते हुए निर्भीकता के साथ हर क्षेत्र में और आगे आना चाहिए। ❑

यह नारी सामर्थ्य के स्मरण का दिन है!

इतिहास के कुछ कालखंड को छोड़ दें तो स्त्रियों की स्थिति बड़ी दयनीय नजर आती है। स्त्री को प्रायः भोग और विलास की वस्तु ही समझा जाता रहा है। ऐसा प्रयास हर कालखंड में किया जाता रहा है कि इसे स्वतंत्र सत्ता कभी न दी जाये। पुरुष की स्वयं के श्रेष्ठ होने की सोच ने स्त्री के सामने कई चुनौतियां पैदा की हैं और वह उन सभी चुनौतियों का सामना कर रही है। काल कोई भी रहा हो, शासन कैसा भी रहा हो, राजा से रंक तक हर पुरुष ने नारी की स्वतंत्रता को लेकर प्रश्नचिन्ह खड़े किये हैं और आज तक वही किया जा रहा है।

पितृ सत्तात्मक समाज ऐसी व्यवस्था है, जिसमें स्त्री, पुरुष के अधीन रहती है। पितृ सत्ता ने स्त्री को उपभोग की वस्तु बनाया। उसे साधन के रूप में प्रयुक्त किया। उसके नाम, रूप, जाति, गोत्र सब अपने संदर्भ में परिभाषित किये। पुरुष ने न केवल स्त्री को साधन बनाया, बल्कि उसे वास्तविक रूप में वस्तु या चीज बना दिया और इस प्रकार स्त्री का चीजीकरण (थिंगीफिकेशन) होना प्रारंभ हुआ, जो कमोबेश आज तक पुरुष सत्ता करती आ रही है।

प्राचीन समाज का कोई ऐसा ठोस तथ्य हमें नहीं मिलता, जो यह बताये कि पहले स्त्रियों की वास्तविक स्थिति क्या थी। हमें मात्र इतनी ही जानकारी मिलती है कि स्त्रियां कठिन श्रम करती थीं और गृहस्थी के बोझ के साथ-साथ संतानोत्पत्ति के कार्य में भी उनको योगदान देना पड़ता था। स्त्री शारीरिक रूप से कमजोर होने के बावजूद पुरुष के अधीन नहीं थी। उसकी स्थिति दास जैसी नहीं थी, क्योंकि वैयक्तिक संपत्ति की अवधारणा और न्याय व्यवस्था के न होने के कारण स्त्री को पुरुष के सामने समर्पित होने के लिए विवश नहीं होना पड़ता था।

एंगेल्स ने कहा है कि मातृ सत्ता से पितृ सत्तात्मक समाज का अवतरण वास्तव में स्त्री जाति की सबसे बड़ी हार है। मानविकी विज्ञान शास्त्र के विचारक 'लेविस्त्रास' ने आदिम समाज का अध्ययन करने के बाद कहा - 'सत्ता चाहे सार्वजनिक हो या सामाजिक, वह हमेशा पुरुष के हाथ में रही है। स्त्री हमेशा अलगाव में रही, उसे यदि पुरुष ने देवी का रूप दिया, तो उसे इतना ऊंचा उठा दिया, निरपेक्ष रूप से इतनी पूज्य बना दिया कि मानव जीवन उसे प्राप्त ही नहीं हो सका। समाज के विकास की गति के साथ-साथ पुरुष में सत्ता के प्रति लोभ बढ़ता गया और वह वंश में अपना नाम रखने की इच्छा से प्रेरित होने लगा। स्त्री पुरुष के अधीन होने को विवश थी। पुरुष को मालूम था कि उसका दिया हुआ सामान ही स्त्री भोग रही है। हालांकि प्राचीन समाज ने स्त्री की अधीनता इतने खुले रूप में नहीं स्वीकारी थी, लेकिन समाज के विकास के साथ-साथ पुरुष का आत्मगौरव बढ़ा। वह प्रकृति के संसाधनों के दोहन के साथ-साथ स्त्री का शोषण करने लगा।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में महिलाओं की पहचान के मानक भी बदले हैं। आज महिलाओं की पहचान का जो मानक प्रचलन में है, वह दो सौ साल पहले नहीं था। ऐतिहासिक नजरिये के बिना महिलाओं को समझना मुश्किल है। उनकी पहचान को ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए। वह जितना दिखती है, उससे ज्यादा छिपी रहती है। यही वजह है कि वह किसी के साथ और किसी भी स्थिति में सामंजस्य बिठा लेती है। महिलाओं की धारणा को लेकर साहित्यकारों और राजनीतिज्ञों में पुरुष-संदर्भ अभी भी वर्चस्व बनाये हुए है। औरत अभी भी साहित्य में बेटी, बहन, बीबी, बहू, मां, दादी, चाची, फूफी, मामी आदि रूपों में ही आ रही है। महिलाओं को हमारे साहित्यकार और राजनीतिज्ञ परिवार के रिश्ते के बिना देख ही नहीं पाते।

आखिर ऐसा कैसे हुआ कि स्वाधीनता संग्राम की आग में तपकर जो महिलाएं सामने आयी थीं, वह अचानक गैर-राजनीतिक कैसे बन गयीं? जो महिलाएं 15 अगस्त 1947 तक राजनीति में सक्रिय हिस्सेदारी के लिए महत्त्वपूर्ण मानी गयीं, वही औरत आजादी के बाद राजनीति के परिदृश्य से गायब क्यों हो गयी। क्या सिर्फ राजनीतिक शिरकत से महिलाओं की चेतना बदल जाती है? हमारे स्वाधीनता-संग्राम ने क्या स्त्री-चेतना को बदला था? क्या भारत विभाजन के दौरान हुए सांप्रदायिक कत्लेआम का औरत की चेतना के अ-राजनीतिकरण में अवदान है? क्या भारत विभाजन ने अ-राजनीतिक राजनीति की वैचारिक जमीन तैयार की थी? क्या इसके कारण स्त्री-चेतना का सांप्रदायिकीकरण हुआ था? महिला संगठनों ने आजादी के तुरंत बाद महिलाओं को राजनीतिक तौर पर जगाये रखने का काम क्यों नहीं किया? आजादी के तुरंत बाद राजनीतिक दलों ने स्त्री जागरण की उपेक्षा क्यों की? इन सवालों का अभी तक संतोषजनक उत्तर नहीं मिला है।

महिला सशक्तिकरण या वूमन एम्पावमेंट का बहुत सीधा अर्थ है कि महिला और पुरुष इस दुनिया में बराबर हैं और ये बराबरी उन्हें प्रकृति से मिली है। महिला सशक्तिकरण या वूमन एम्पावमेंट के तहत कोई भी महिला किसी भी पुरुष से कुछ नहीं चाहती और न समाज से कुछ चाहती है, क्योंकि वह अस्वीकार करती है कि पुरुष उसका 'मालिक' है। ये कोई चुनौती नहीं है, और ये कोई सत्ता की उथल-पुथल भी नहीं है। ये 'एक जागृति है' कि महिला और पुरुष दोनों इंसान हैं और दोनों समान अधिकार रखते हैं। बहुत से लोग 'सशक्तिकरण' से ये समझते हैं कि महिला को कमजोर से शक्तिशाली बनना है, नहीं ये विचारधारा ही गलत है। 'सशक्तिकरण' का अर्थ है कि जो हमारा मूलभूत अधिकार है, यानी सामाजिक व्यवस्था में बराबरी की हिस्सेदारी हमें मिलनी चाहिए। 'महिला सशक्तिकरण' पुरुष को उसके आसन हिलाने की कोई पहल नहीं है, अपितु 'महिला सशक्तिकरण' एक सोच है कि हम तो बराबर ही हैं, सो हमें पुरुषों से कुछ इसलिए नहीं चाहिए कि हम महिला हैं। नहीं चाहिए उन्हें कोई ऐसी 'लाइन', जिसमें खड़ा करके हम उनके किये हुए कामों की तारीफ करें' क्योंकि हम महिला को आगे बढ़ाना चाहते हैं।' ये महिलाओं के मूलभूत अधिकारों का हनन है। अपमान है उनका।

स्त्री के सामाजिक यथार्थ को रूपायित करने के लिए स्त्री-पुरुष की सही स्थिति की सटीक समझ परमावश्यक है। औरत की सही समझ के अभाव में समूचा विवेचन अमूर्त हो जाता है, प्रभावहीन हो जाता है, औरत अमूर्त या अदृश्य हो जाती है। औरत की अदृश्य स्थिति के कारण विकृत विश्लेषण जन्म लेता है और जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं, वे अप्रमाणिक और अधूरे होते हैं। समाज में स्त्री का जो स्थान है, उसके प्रति सवाल उठ खड़े हुए हैं। महिलाओं की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अवस्था संतोषजनक नहीं है। महिलाओं के चर्चा में आने या बने रहने का अर्थ है कि औरत के मसले अभी सुलझ नहीं पाये हैं। महिलाओं के मसले क्यों उलझते हैं क्योंकि औरत के प्रति पूर्वाग्रह काम करते रहते हैं। - *संकलित*

धर्म की आड़

❑ गणेश शंकर विद्यार्थी

इतिहास में गणेश शंकर विद्यार्थी का नाम स्वार्णाक्षरों में दर्ज है। प्रताप में निरंतर लिखे अपने विचारोत्तेजक लेखों के कारण उन्हें पांच बार जेल जाना पड़ा। सांप्रदायिक सद्‌भाव पर लिखे उनके लेख आज भी पढ़े जाने योग्य हैं। सर्वोदय जगत के इस अंक में उनके लिखे इन दो चर्चित लेखों को प्रकाशित करते हुए हम उनकी स्मृति को नमन कर रहे हैं। **–सं.**

इस समय, देश में धर्म की धूम है। उत्पात किये जाते हैं, तो धर्म और ईमान के नाम पर और जिद की जाती है, तो धर्म और ईमान के नाम पर। रमुआ पासी और बुद्धू मियाँ धर्म और ईमान को जानें या न जानें, परंतु उसके नाम पर उबल पड़ते हैं और जान लेने और जान देने के लिए तैयार हो जाते हैं। देश के सभी शहरों का यही हाल है। उबल पड़ने वाले साधारण आदमी का इसमें केवल इतना ही दोष है कि वह कुछ भी नहीं समझता-बूझता और दूसरे लोग उसे जिधर जोत देते हैं, उधर जुत जाता है। यथार्थ दोष है, कुछ चलते-पुरजे, पढ़े-लिखे लोगों का, जो मूर्ख लोगों की शक्तियों और उत्साह का दुरुपयोग इसलिए कर रहे हैं कि इस प्रकार, जाहिलों के बल के आधार पर उनका नेतृत्व और बड़प्पन कायम रहे। इसके लिए धर्म और ईमान की बुराइयों से काम लेना उन्हें सबसे सुगम मालूम पड़ता है।

साधारण-से-साधारण आदमी तक के दिल में यह बात अच्छी तरह बैठी हुई है कि धर्म और ईमान की रक्षा के लिए प्राण तक दे देना वाजिब है। बेचारा साधारण आदमी धर्म के तत्वों को क्या जाने? लकीर पीटते रहना ही वह अपना धर्म समझता है। उसकी इस अवस्था से चालाक लोग इस समय बहुत बेजा फायदा उठा रहे हैं। पाश्चात्य देशों में, धनी लोग गरीब मजदूरों के परिश्रम का बेजा लाभ उठाते हैं। उसी परिश्रम की बदौलत गरीब मजदूर की झोपड़ी का मजाक उड़ाती हुई उनकी अट्टालिकाएँ आकाश से बातें करती है। गरीबों की कमाई से वे मोटे होते हैं और उसी के बल से वे सदा इस बात का प्रयत्न करते हैं कि गरीब सदा चूसे जाते रहें। यह भयंकर अवस्था है। इसी के कारण, साम्यवाद, बोल्शेविज्म आदि का जन्म हुआ।

हमारे देश में इस समय धनपतियों का जोर है। यहाँ धर्म के नाम पर, कुछ इने-गिने आदमी अपने हीन स्वार्थों की सिद्धि के लिए, करोड़ों आदमियों की शक्ति का दुरुपयोग किया करते हैं। गरीबों का धनाढ्यों द्वारा चूसा जाना इतना बुरा नहीं हैं, जितनी बुरी है बुद्धि पर मार। वहाँ धन दिखाकर करोड़ों को वश में किया जाता है और फिर मनमाना धन पैदा करने के लिए उन्हें जोत दिया जाता है। गरीबों की बुद्धि पर परदा डालकर पहले ईश्वर और आत्मा का स्थान अपने लिए लेना और फिर, धर्म, ईमान, ईश्वर और आत्मा के नाम पर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए लोगों को लड़ाना-भिड़ाना धनाढ्यों को प्रिय है। मूर्ख बेचारे धर्म की दुहाइयाँ देते और दीन-दीन चिल्लाते हैं, अपने प्राणों की बाजियाँ खेलते, थोड़े-से अनियंत्रित और धूर्त आदमियों का आसन ऊँचा करते और उनका बल बढ़ाते हैं।

धर्म और ईमान के नाम पर किये जाने वाले इस भीषण व्यापार को रोकने के लिए साहस और दृढ़ता के साथ उद्योग होना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक भारतवर्ष में नित्य-प्रति बढ़ते जाने वाले झगड़े कम न होंगे। धर्म की उपासना के मार्ग में कोई भी रुकावट न हो। जिसका मन जिस प्रकार चाहे, उसी प्रकार धर्म की भावना को अपने मन में जगावे। धर्म और ईमान, मन का सौदा हो, ईश्वर और आत्मा के बीच का संबंध हो, आत्मा को शुद्ध करने और ऊँचे उठाने का साधन हो। वह किसी दशा में भी, किसी दूसरे व्यक्ति की स्वाधीनता को छीनने या कुचलने का साधन न बने। आपका जैसा मन चाहे, उस तरह का धर्म आप मानें और दूसरे का जैसा मन चाहे, उस प्रकार का धर्म वह माने। दो भिन्न धर्मों को मानने वालों के टकरा जाने के लिए कोई भी स्थान न हो। यदि किसी धर्म के मानने वाले कहीं जबरदस्ती टाँग अड़ाते हों, तो उनका इस प्रकार का कार्य देश की स्वाधीनता के विरुद्ध समझा जाय।

देश की स्वाधीनता के लिए जो उद्योग किया जा रहा था, उसमें वह दिन निःसंदेह अत्यंत बुरा था। जिस दिन स्वाधीनता के क्षेत्र में खिलाफत, मुल्ला, मौलवियों और धर्माचार्यों को स्थान दिया जाना आवश्यक समझा गया। एक प्रकार से उस दिन हमने स्वाधीनता के क्षेत्र में, एक कदम पीछे हटकर रखा था। अपने उसी पाप का फल आज हमें भोगना पड़ रहा है। देश की स्वाधीनता के संग्राम ने ही मौलाना अब्दुल बारी और शंकराचार्य को देश के सामने दूसरे रूप में पेश किया, उन्हें अधिक शक्तिशाली बना दिया। हमारे इस काम का फल यह हुआ है कि इस समय, हमारे ही हाथों से बढ़ाई इनकी और इनके जैसे लोगों की शक्तियाँ हमारी जड़ उखाड़ने में लगी हैं और देश में मजहबी पागलपन, प्रपंच और उत्पात का राज्य स्थापित कर रही हैं। महात्मा गांधी धर्म को सर्वत्र स्थान देते हैं। वे एक पग भी धर्म के बिना चलने के लिए तैयार नहीं हैं। परंतु उनकी बात ले उड़ने के पहले, प्रत्येक आदमी का कर्तव्य यह है कि वह भली-भाँति समझ ले कि महात्मा जी के धर्म का स्वरूप क्या है।

धर्म से महात्मा जी का मतलब धर्म के ऊँचे और उदार तत्वों से है। उनके मानने में किसे एतराज हो सकता है। अजान देने, शंख बजाने, नाक दबाने और नमाज पढ़ने का नाम धर्म नहीं है। शुद्धाचरण और सदाचार ही धर्म के स्पष्ट चिन्ह हैं। दो घंटे तक बैठकर पूजा कीजिए और पंच-वक्ता नमाज भी अदा कीजिए, परंतु ईश्वर को इस प्रकार की रिश्वत दे चुकने के पश्चात यदि आप अपने को दिन-भर बेईमानी करने और दूसरों को तकलीफ पहुँचाने के लिए आजाद समझते हैं तो, इस धर्म को अब आगे आने वाला समय कदापि नहीं टिकने देगा। अब आपका पूजा-पाठ नहीं देखा जायेगा, आपकी भलमनसाहत की कसौटी केवल आपका आचरण होगा। सबके कल्याण की दृष्टि से, आपको अपने आचरण को सुधारना पड़ेगा और यदि आप अपने आचरण को नहीं सुधारेंगे तो नमाज और रोजे, पूजा और गायत्री आपको देश के अन्य लोगों की आजादी

को रौंदने और देश-भर में उत्पातों का कीचड़ उछालने के लिए आजाद न छोड़ सकेगी।

ऐसे धार्मिक और दीनदार आदमियों से तो, वे लामजहब और नास्तिक आदमी कहीं अधिक अच्छे और ऊँचे हैं, जिनका आचरण अच्छा है, जो दूसरों के सुख-दुःख का ख्याल रखते हैं और जो मूर्खों को किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उकसाना बहुत बुरा समझते हैं। ईश्वर इन नास्तिकों और ला-मजहब लोगों को अधिक प्यार करेगा और वह अपने पवित्र नाम पर अपवित्र काम करने वालों से यही कहना पसंद करेगा, 'मुझे मानो या न मानो, तुम्हारे मानने ही से मेरा ईश्वरत्व कायम नहीं रहेगा। दया करके, मनुष्यत्व को मानो, पशु बनना छोड़ो और आदमी बनो।'

×

राष्ट्रीयता

देश में कहीं-कहीं राष्ट्रीयता के भाव को समझने में गहरी और भद्दी भूल की जा रही है। आये दिन हम इस भूल के अनेकों प्रमाण पाते हैं। यदि इस भाव के अर्थ भली-भाँति समझ लिये गये होते तो इस विषय में बहुत-सी अनर्गल और अस्पष्ट बातें सुनने में न आतीं। राष्ट्रीयता जातीयता नहीं है। राष्ट्रीयता धार्मिक सिद्धांतों का दायरा नहीं है। राष्ट्रीयता सामाजिक बंधनों का घेरा नहीं है। राष्ट्रीयता का जन्म देश के स्वरूप से होता है। उसकी सीमाएँ देश की सीमाएँ हैं। प्राकृतिक विशेषता और भिन्नता देश को संसार से अलग तथा स्पष्ट करती है और उसके निवासियों को एक विशेष बंधन, किसी सादृश्य के बंधन-से बाँधती है। राष्ट्र पराधीनता के पालने में नहीं पलता। स्वाधीन देश ही राष्ट्रों की भूमि है, क्योंकि पुच्छ-विहीन पशु हों तो हों, परंतु अपना शासन अपने हाथों में न रखने वाले राष्ट्र नहीं होते। राष्ट्रीयता का भाव मानव-उन्नति की एक सीढ़ी है। उसका उदय नितांत स्वाभाविक रीति से हुआ। योरप के देशों में यह सबसे पहले जनमा।

मनुष्य उसी समय तक मनुष्य है, जब तक उसकी दृष्टि के सामने कोई ऐसा ऊँचा आदर्श है, जिसके लिए वह अपने प्राण तक दे सके। समय की गति के साथ आदर्शों में परिवर्तन हुए। धर्म के आदर्श के लिए लोगों ने जान दी और सिर कटाया। परंतु संसार के भिन्न-भिन्न धर्मों के संघर्षण, एक-एक देश में अनेक धर्मों के होने तथा धार्मिक भावों की प्रधानता से देश के व्यापार, कला-कौशल और सभ्यता की उन्नति में रुकावट पड़ने से, अंत में धीरे-धीरे धर्म का पक्षपात कम हो चला और लोगों के सामने देश-प्रेम का स्वाभाविक आदर्श आ गया। जो प्राचीन काल में धर्म के नाम पर कटते-मरते थे, आज उनकी संतति देश के नाम पर मरती है। पुराने अच्छे थे या ये नये, इस पर बहस करना फिजूल ही है, पर उनमें भी जीवन था और इनमें भी जीवन है। वे भी त्याग करना जानते थे और ये भी और ये दोनों उन अभागों से लाख दर्जे अच्छे और सौभाग्यवान हैं, जिनके सामने कोई आदर्श नहीं और जो हर बात में मौत से डरते हैं। ये पिछले आदमी अपने देश के बोझ और अपनी माता की कोख के कलंक हैं। देश-प्रेम का भाव इंग्लैंड में उस समय उदय हो चुका था, जब स्पेन के कैथोलिक राजा फिलिप ने इंग्लैंड पर अजेय जहाजी बेड़े आरमेड़ा द्वारा चढ़ाई की थी, क्योंकि इंग्लैंड के कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट, दोनों प्रकार के ईसाइयों ने देश के शत्रु का एक-सा स्वागत किया। फ्रांस की राज्यक्रांति ने राष्ट्रीयता को पूरे वैभव से खिला दिया। इस प्रकाशमान रूप को देखकर गिरे हुए देशों को आशा का मधुर संदेश मिला।

19वीं शताब्दी राष्ट्रीयता की शताब्दी थी। वर्तमान जर्मनी का उदय इसी शताब्दी में हुआ। पराधीन इटली ने स्वेच्छाचारी आस्ट्रिया के बंधनों से मुक्ति पाई। यूनान को स्वाधीनता मिली और बालकन के अन्य राष्ट्र भी कब्रों से सिर निकाल कर उठ खड़े हुए। चोरों के कान खड़े हो गये। उन्होंने संसार की गति की ओर दृष्टि फेरी। देखा, संसार को एक नया प्रकाश मिल गया है और जाना कि स्वार्थपरायणता के इस अंधकार को बिना उस प्रकाश के पार करना असंभव है। अब हम उन हिलोरों के रत्न देख रहे हैं। जापान एक रत्न है, ऐसा चमकता हुआ कि राष्ट्रीयता उसे कहीं भी पेश कर सकती है। लहर रुकी नहीं। बढ़ी और खूब बढ़ी। अफीमची चीन को उसने जगाया और पराधीन भारत को उसने चेताया। फारस में उसने जागृति फैलाई और एशिया के जंगलों और खोहों तक में राष्ट्रीयता की प्रतिध्वनि किसी न किसी रूप में उसने पहुँचाई। यह संसार की लहर है। इसे रोका नहीं जा सकता।

भारत में हम राष्ट्रीयता की पुकार सुन चुके हैं। हमें भारत के उच्च और उज्ज्वल भविष्य का विश्वास है। हमें विश्वास है कि हमारी बाढ़ किसी के रोके नहीं रुक सकती। रास्ते में रोकने वाली चट्टानें आ सकती हैं, पर चट्टानें पानी की किसी बाढ़ को नहीं रोक सकतीं। ऊटपटाँग रास्ते नहीं नापने चाहिए। कुछ लोग 'हिंदू राष्ट्र', 'हिंदू राष्ट्र' चिल्लाते हैं। हमें क्षमा किया जाय, यदि हम कहें-नहीं, हम इस बात पर जोर दें कि वे एक बड़ी भारी भूल कर रहे हैं और उन्होंने अभी तक 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ ही नहीं समझे। हम भविष्यवक्ता नहीं, पर अवस्था हमसे कहती है कि अब संसार में 'हिंदू राष्ट्र' नहीं हो सकता, क्योंकि राष्ट्र का होना उसी समय संभव है, जब देश का शासन देश वालों के हाथ में हो और यदि मान लिया जाय कि आज भारत स्वाधीन हो जाये, या इंग्लैंड उसे औपनिवेशिक स्वराज्य दे दे, तो भी हिंदू ही भारतीय राष्ट्र के सब कुछ न होंगे और जो ऐसा समझते हैं— हृदय से या केवल लोगों को प्रसन्न करने के लिए—वे भूल कर रहे हैं और देश को हानि पहुँचा रहे हैं।

वे लोग भी इसी प्रकार की भूल कर रहे हैं, जो टर्की या काबुल, मक्का या जेद्दा का स्वप्न देखते हैं, क्योंकि वह उनकी जन्मभूमि नहीं है और इसमें कुछ भी कटुता न समझी जानी चाहिए, यदि हम यह कहें कि उनकी कब्रें इसी देश में बनेंगी और उनके मर्सिये इसी देश में गाये जाएँगे, परंतु हमारा प्रतिपक्षी मुँह बिचका कर कह सकता है कि राष्ट्रीयता स्वार्थों की खान है। देख लो इस महायुद्ध को और इंकार करने का साहस करो कि संसार के राष्ट्र पक्के स्वार्थी नहीं है। हम इस विपक्षी का स्वागत करते हैं, परंतु संसार की किस वस्तु में बुराई और भलाई दोनों बातें नहीं हैं? लोहे से डॉक्टर का घाव चीरने वाला चाकू और रेल की पटरियाँ बनती हैं और इसी लोहे से हत्यारे का छुरा और लड़ाई की तोपें भी बनती हैं। सूर्य का प्रकाश फूलों को रंग-बिरंगा बनाता है पर वह बेचारा मुर्दा लाश का क्या करें, जो उसके लगते ही सड़कर बदबू देने लगती है। हम राष्ट्रीयता के अनुयायी हैं, पर वही हमारा सब कुछ नहीं, वह केवल हमारे देश की उन्नति का उपाय-भर है। ❑

सरदार भगत सिंह और महात्मा गांधी

गांधी की अहिंसा, सत्य, प्रेम और करुणा पर आधारित थी और भगत सिंह भी हर मामले में हिंसा के पक्षधर नहीं थे। वे नास्तिक थे और भगत सिंह की नास्तिकता में गांधी की आस्तिकता के दर्शन भी होते थे। दोनो में परस्पर विश्वास इतना था कि दोनों 'परस्पर संवाद' में यकीन रखते थे और तर्क के आधार पर ही एक दूसरे को जीतना चाहते थे। दोनो का मानना था कि बम व हथियार कभी भी क्रांति का पर्याय नहीं हो सकते। दोनो ब्रिटिश शासन का मुकाबला अपने-अपने ढंग से करना चाहते थे, मंजिल एक थी, परन्तु रास्ते अलग-अलग थे। दोनों एक दूसरे को अपने विचारों से कायल करना चाहते थे। बापू देश की नब्ज को जान चुके थे और साथ साथ दीन हीन भारतीयों के हालात भी और यह भी कि निर्दयी, निरंकुश व अहंकारी अंग्रेज़ी सरकार का मुकाबला, हथियारों से न करके जनता को एकजुट करके उसकी सामूहिक वैचारिक शक्ति से करना होगा। इधर भगत सिंह भी बार-बार नए प्रयोग कर रहे थे और उनका मानना था कि इंकलाब की तलवार की धार विचारों की सान पर तेज होती है। अपने इन्हीं संवादों को पत्रों के माध्यम से 'बम की पूजा' और 'बम का दर्शन' लेख लिख कर गांधी और भगत सिंह ने एक दूसरे को कायल करने का प्रयास किया। वे दोनों कहीं भी एक दूसरे के प्रति कभी भी कोई असम्मानजनक शब्दों का प्रयोग नहीं करते तथा 'क्रांतिकारी' और 'महात्मा जी' के सम्मानजनक शब्दों से सम्बोधित करते हैं। दोनों की समझ मात्र आज़ादी प्राप्ति नहीं थी, एक व्यवस्था परिवर्तन की थी। एक का कहना था कि अंग्रेज़ बेशक रह जाए, अंग्रेज़ियत खत्म होनी चाहिए जबकि दूसरे का मत भी स्पष्ट था कि आज़ादी का मतलब गोरे अंग्रेज़ों के जाने के बाद काले अंग्रेज़ों का शासन नहीं है।

अनेक मतभेदों के बावजूद वे कहीं भी एक दूसरे के दुश्मन नही थे। क्या गांधी जी ने कभी भी भगत सिंह के बहिष्कार अथवा निंदा का प्रयास किया? अथवा गांधी जी कभी भी क्रान्तिकारियों के हिंसक निशाने पर रहे? सभी जानते है कि भगत सिंह और उनकी विचारधारा के शत्रु कौन हैं और गांधी की हत्या किसने और किस विचारधारा ने की।

दोनों एक दूसरे की कार्यनीतियों पर भी पैनी नज़र रखते हैं और जरूरत होने पर उनका इस्तेमाल भी करते हैं। जहाँ चौरीचौरा कांड के बाद बापू अपना असहयोग आंदोलन वापस लेते हैं, वहीं भगत सिंह व उनके साथियों ने लाला लाजपतराय की हत्या का बदला लेने के लिए सांडर्स वध किया और वहाँ से भागे पर नेशनल असेंबली में बम फेंकने के बाद उन्होंने आत्मसमर्पण किया। लड़ाई की कार्यनीतियों में उन्होंने अपने-अपने ढंग से बदलाव किये। विश्व इतिहास की सबसे बड़ी भूख हड़ताल किसी और ने नहीं, अपितु भगत सिंह व उनके साथियों ने की थी, जिसमें उनके एक साथी जतिन दास अनशन के 63वें दिन शहीद हुए। सन 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन में उन्हीं अहिंसक बापू ने करो या मरो का नारा दिया।

दोनों विश्व इतिहास के महान अध्येता हैं और भारतीय परिपेक्ष्य में साम्प्रदायिकता, अस्पृश्यता और जाति भावना को राष्ट्रविरोधी मानते हैं। भगत सिंह 'धर्म और हमारा स्वतन्त्रता आंदोलन', 'सत्याग्रह और हड़तालें', 'साम्प्रदायिक दंगे और उनका इलाज', 'अछूत का सवाल', 'विद्यार्थी और राजनीति', 'षड्यंत्र क्यों होते हैं और कैसे रुक सकते हैं?', जैसे अनेक लेख लिखे। यह लेख उस समय लिखे गए जब देश में 'हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग' की राजनीति अपने शुरुआती दौर में थी। भगत सिंह भविष्य के खतरों को भांप गए थे और भावी पीढ़ी को हर तरह से सचेत करना चाहते थे। महात्मा गांधी ने दूसरे माध्यम से सर्व धर्म समभाव, अस्पृश्यता निवारण तथा रचनात्मक कार्यों के लिए न केवल अनेक संगठनों का निर्माण किया, बल्कि अपने पत्रों 'हरिजन', 'यंग इंडिया' तथा 'नवजीवन' मे लगातार लेख प्रकाशित किये। उनका मानना था कि इन सभी के रहते भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का कोई मूल्य नहीं है।

महात्मा गांधी पर यह आक्षेप रहा है कि यदि वे चाहते तो इरविन समझौते के तहत भगत सिंह और उनके साथियों की फांसी रुकवा सकते थे। इसे समझने के लिए चालाक अंग्रेज़ी शासन की चालों को भी समझना होगा। उन्होंने बहुत ही चालाकी से सजा की घोषणा व फांसी की तिथि 23 मार्च, 1931 यह जानते हुए तय की कि 26 मार्च को करांची में अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक है और 29 मार्च को कांग्रेस का खुला अधिवेशन है। वे एक तीर से दो निशाने चाहते थे, एक कांग्रेस व क्रांतिवीरों में अलगाव, दूसरे लोगों की नजरों में महात्मा गांधी की प्रतिष्ठा में गिरावट। हम अन्य तथ्यों पर ध्यान देने के साथ-साथ इस पर भी गौर करेंगे कि क्या खुद भगत सिंह और उनके साथी फांसी से बचना चाहते थे? यदि हाँ तो एक नहीं, अनेक अवसर थे, जब वे जेल से निकल सकते थे, परन्तु उनकी सोच साफ थी कि इन तीन का बलिदान भारत की सोयी हुई तीस करोड़ जनता को झकझोर देगा और ऐसा हुआ भी। लाला लाजपतराय के कांग्रेस छोड़ कर हिन्दू महासभा में जाने से भगत सिंह व उनके साथी नाराज थे व एक जनसभा में, लालाजी की उपस्थिति में उन्होंने उनके खिलाफ पर्चे भी बांटे थे पर वह भगत सिंह ही नहीं थे क्या, जिन्होंने लाला जी को स्वतन्त्रता आंदोलन की मुख्य धारा से जोड़ने के लिये साइमन कमीशन का विरोध प्रदर्शन का नेतृत्व करने के लिए प्रेरित किया था?

पंडित नेहरू और सुभाष बाबू में से युवा किसे चुनें! इसपर उनका लेख बहुत ही महत्वपूर्ण है, जिसमें उन्होंने पं. नेहरू को एक वैज्ञानिक सोच का व्यवहारिक नेता कहा था। हमें यहाँ भगत सिंह तथा उनके पिता किशन सिंह की फांसी की सजा के बाद जेल में मुलाकात के दौरान बातचीत पर भी ध्यान देना होगा, जिसमें पिता ने जब प्रिवी कौंसिल में सजा के खिलाफ अपील की बात की तो भगत सिंह को यह बात नागवार गुजरी और उन्होंने कहा कि यदि अपील की बात करने वाला उनके पिता के स्थान पर कोई और होता तो उसकी खैर नही थी।

उनके वकील प्राणनाथ मेहता के अनुसार भगत सिंह को जब फांसी के लिए ले जाने के लिए बुलाने को जेलर आया तो उस समय वे लेनिन की पुस्तक 'राज्य और क्रांति' पढ़ रहे थे। जब उन्हें चलने के लिए कहा गया तो उन्होंने कहा 'थोड़ा ठहरें, एक क्रांतिकारी दूसरे क्रांतिकारी से मिल रहा है। किताब पढ़ कर उन्होंने उसे ऊपर उछाला और चल दिये। भगत सिंह तथा उनके साथी, लेनिन से प्रभावित थे और लेनिन ने कभी महात्मा गांधी की प्रशंसा करते हुए कहा था कि वे साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़े जाने वाले संघर्ष के सबसे बड़े नेता हैं और भारत में उनके नेतृत्व में ही लड़ाई लड़ी जानी चाहिए।

- संकलित

युवाओं को क्रांति के लिए नेहरू के रास्ते पर चलना चाहिए : भगत सिंह

❑ कृष्ण मुरारी

भगत सिंह की बात होने पर हम अक्सर उनके जीवन के क्रांतिकारी पहलुओं के बारे में ही चर्चा करते हैं, लेकिन एक इंसान के जीवन की कई परतें होती हैं. परत दर परत इंसान कई संभावनाएं लिये होता है. भगत सिंह भी ऐसी ही शख्सियत थे, जो केवल क्रांति का ही जज्बा नहीं रखते थे, बल्कि समाज के अलग-अलग मसलों पर अपने विचार रखते थे। हमेशा लीक से हटकर होते थे. इसके पीछे उनका व्यापक अध्ययन और समाज को देखने का नज़रिया था. भगत सिंह का मानना था कि हम तभी किसी के तर्कों को काट सकते हैं, जब हमने अध्ययन किया हो.

1923 का वर्ष था. भगत सिंह नेशनल कॉलेज लाहौर से एफ.ए (फैकल्टी ऑफ आर्ट) कर रहे थे. बहसों और चर्चाओं में उनका मन रमता जा रहा था. इसी दौरान उनके दादाजी ने उनकी शादी करने का फैसला किया. वह इसके खिलाफ थे और अपने जीवन को देश के लिए समर्पित करना चाहते थे.

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफेसर चमन लाल ने अपनी किताब भगत सिंह रीडर में भगत सिंह द्वारा अपने पिता को लिखी चिट्ठी का जिक्र किया है. उन्होंने अपने पिता को खत में लिखा कि मेरा एकमात्र उद्देश्य भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति है. मेरे लिए इच्छाओं और आराम का कोई स्थान नहीं है. आपको याद होगा कि मेरे यज्ञोपवीत संस्कार के समय बापूजी ने कहा था कि मेरा जीवन देश के काम आएगा. मैं उसी को निभा रहा हूं. मैं आशा करता हूं कि आप उदारतापूर्वक मुझे माफ करेंगे.

कम उम्र में ही भगत सिंह ने समाज के कई महत्वपूर्ण विषयों पर अपने विचार रखे. इन विचारों के पीछे उनका विषय के बारे में गहन अध्ययन और तार्किक आधार था. अस्पृश्यता, सत्याग्रह व धर्म समेत कई विषयों पर उन्होंने विस्तार से लिखा, जो अलग-अलग नाम से तत्कालीन अखबारों में छपा.

1920-30 के समय अस्पृश्यता को लेकर एक बड़ा सवाल समाज के सामने खड़ा था. समाज में निचली जातियों के लोगों को दोयम दर्जे का नागरिक माना जाता था. इसी को लेकर जून 1928 में भगत सिंह ने विद्रोही नाम से 'अछूत दा सवाल' शीर्षक से एक लंबा लेख लिखा, जिसमें उन्होंने मजदूर वर्ग जिन्हें अछूत माना जाता था, उनकी समस्या को लेकर, उनके प्रति समाज की सोच और कैसे यह वर्ग उठ खड़ा हो, इस पर विस्तार से लिखा और इसका हल बताया.

भगत सिंह ने अपने लेख में लिखा, हमारा देश धार्मिक मान्यताओं को मानते हुए भी मनुष्य को मनुष्य की तरह नहीं देखता है. अमेरिकन और फ्रेंच क्रांति के मूल में समानता की भावना थी. आज रूस में भी सभी तरह के भेदभाव खत्म हो गए हैं. लेकिन हम अपने देश में देखें तो हम अपने ही लोगों के साथ ठीक से व्यवहार नहीं करते हैं. जब हमारे लोग दूसरे देश जाते हैं और उनके साथ वहां दुर्व्यवहार होता है तो वे शिकायत करते हैं. क्या हमें ऐसा करने का कोई हक है?

वो आगे लिखते हैं – हम जानवरों को अपने पास बैठाते हैं, लेकिन एक मनुष्य को अपने पास बैठाने से हिचकते हैं. एक अच्छा समाज कैसे बनाया जाए, इसका जवाब भी भगत सिंह अपने इसी लेख में देते हैं. वे लिखते हैं–इस समस्या का हल बहुत आसान है. हमें सभी मनुष्यों को एक समान रूप से देखना चाहिए. जन्म या उसके काम के आधार पर भेदभाव को बंद करना पड़ेगा तभी समतामूलक समाज का निर्माण हो सकता है. वे अस्पृश्य कहे जाने वाले लोगों से कहते हैं–उठो! अपने इतिहास की तरफ देखो. आप लोग ही गुरू गोविंद सिंह की सेना की जान थे. आप लोगों की वजह से ही शिवाजी कुछ कर पाए. आप लोगों का संघर्ष और बलिदान स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जा रहा है. आपको अपने प्रयासों द्वारा खुद ही उठना पड़ेगा. संगठित होकर लड़ना होगा. फिर देखिए, कोई आपको आपके अधिकारों को देने से रोक नहीं पाएगा. आप लोग ही इस देश के आधार हैं. आप लोगों के पास खोने के लिए कुछ नहीं है. वर्तमान व्यवस्था के खिलाफ उठ खड़े होइए. सामाजिक आंदोलन के ज़रिए एक क्रांति को जन्म दीजिए.

नेहरू के विचारों को अपनाने की ज़रूरत

1928 में भगत सिंह ने नेहरू और सुभाष चंद्र बोस की तुलना करते हुए एक लेख लिखा. इस लेख में उन्होंने दोनों नेताओं उनके विचारों को लेकर तुलना की. इस लेख में भगत सिंह असहयोग आंदोलन के असफल होने के बाद पुराने नेताओं के हाशिए पर चले जाने और नए नेताओं के उदय को देखते हैं. ऐसे नेताओं में भगत सिंह दो शख्सियतों के विचारों की तुलना करते हैं. इनमें से एक सुभाष चंद्र बोस और दूसरे जवाहरलाल नेहरू थे.

भगत सिंह लिखते हैं कि दोनों ही नेता भारत की आज़ादी के लिए प्रतिबद्ध हैं, लेकिन दोनों अपने विचारों के स्तर पर काफी अलग हैं. एक भारतीय संस्कृति का वाहक और भावनात्मकता से जुड़ा है तो दूसरा एक क्रांतिकारी है. भगत सिंह बोस को एक भावनात्मक बंगाली व्यक्ति के रूप में देखते हैं. उनका मानना है कि बोस भारत को पूरे विश्व के आध्यात्मिक गुरू के रूप में देखते हैं. उनका सभ्यता पर विश्वास है. वे लोकतंत्र और गणतंत्र को हिंदुस्तान से ही निकला सिद्धांत मानते हैं. बोस कम्युनिज्म को भी भारत में नया नहीं मानते थे. वहीं दूसरी तरफ भगत सिंह नेहरू को अलग रूप से देखते हैं. उनका मानना था कि नेहरू युवाओं में विद्रोही भावना देखना चाहते थे. विद्रोह सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि आर्थिक,सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी. भगत सिंह का मानना था कि नेहरू तार्किक आधार पर सोचते थे न कि मान्यताओं और भावनाओं के आधार पर.

सुभाष चंद्र बोस भी पूर्ण स्वराज के पक्ष में थे. लेकिन उन्होंने कहा था कि पश्चिम ने अंग्रेज़ी को अपनाया है और हम पूरब के हैं. इसलिए इनका हमारे मुल्क पर राज नहीं होना चाहिए. वहीं नेहरू का मानना था कि हमें आज़ादी इसलिए चाहिए ताकि हम अपना राज कायम करें और सामाजिक व्यवस्था को बदलें. बोस मज़दूरों की स्थिति को लेकर चिंतित थे, लेकिन नेहरू चाहते थे कि क्रांति के ज़रिए इस पूरी व्यवस्था को बदला जाए. बोस ने युवाओं के लिए बहुत कुछ किया लेकिन सिर्फ दिल से. दूसरी तरफ नेहरू ने दिल और दिमाग से युवाओं के लिए काम किया.

भगत सिंह इस लेख में आगे लिखते हैं कि पंजाब हमेशा से ही भावनात्मक क्षेत्र रहा है. यहां के लोग बहुत जल्द ही उत्साहित हो जाते हैं. इसीलिए पंजाब के लोगों को इस वक्त नेहरू के विचारों के साथ आगे बढ़ना चाहिए. पंजाब के युवाओं को नेहरू के रास्ते पर चलकर हिंदुस्तान में क्रांति का मतलब जानना चाहिए. ❑

गांधी और भगत सिंह

गांधी या भगत सिंह पर कुछ भी लिखूँ लेकिन एक सवाल से बार-बार सामना होता है. लोग पूछते हैं कि क्या गांधी या कांग्रेस ने भगत सिंह को जानबूझकर नहीं बचाया? कई बार सवाल तो एक लाइन का होता है लेकिन जवाब एक लाइन का नहीं होता. थोड़ा जटिल और थोड़ा विस्तृत होता है, ठीक वैसा ही, जैसी परिस्थिति 1930-31 में बनी हुई थी.

भगत जहां सशस्त्र क्रांति से समाजवादी शासन चाहते थे, वहीं गांधी अहिंसा के ज़रिये स्वराज लाने के इच्छुक थे. दोनों की सोच में मूलभूत फ़र्क तो यही था, बावजूद इसके न तो भगत सिंह और उनका संगठन गांधी की हत्या करना चाहते थे और न कभी गांधी ने किसी की हत्या कामना की. गांधी अपने विचार पर इतने दृढ़ थे कि मदनलाल ढींगरा का मामला हो, वायसराय की ट्रेन उड़ाने का मसला हो या सांडर्स की हत्या का, वे हमेशा ऐसे कृत्यों की निंदा करते रहे. उन्होंने अपना ये स्टैंड कभी नहीं बदला. साफ़ है कि दोनों के विचार में अंतर था लेकिन वे एक दूसरे के दुश्मन कभी नहीं थे. आप संपूर्ण गांधी वांग्मय पढ़ेंगे तो पाएँगे कि भगत सिंह के मामले में अंत आते आते गांधी थोड़ा सहृदय होते चले गए. ऐसा उनकी नरम होती टिप्पणियों से पता चलता है.

ये भी अहम बात है कि भगत सिंह ने असेंबली में बम फेंका तो ख़ुद ही सरेंडर किया. वो जानते थे कि सज़ा होगी. उनका ये कृत्य AUGUST VAILLANT नाम के फ्रेंच क्रांतिकारी से प्रेरित था. उसने भी 1893 में चेंबर ऑफ डेप्युटीज़ में धमाके किए और अगले साल फाँसी का फंदा चूमा.1929 में यही कारनामा दोहराते हुए भगत सिंह जानते थे कि अब लौटना नहीं है. वे चाहते भी यही थे कि मुक़दमा लंबा खिंचे, ताकि वे क्रांतिकारियों की बात अदालत में कहते रहें, मीडिया रिपोर्ट करता रहे, जनता अख़बार पढ़कर जान सके कि क्रांतिकारी क्यों लड़ रहे हैं. केस में उन्होंने वकील लेने से साफ़ इनकार कर दिया जबकि उनके साथी बीके दत्त का मुक़दमा कांग्रेस नेता आसफ़ अली ने लड़ा. दोनों में से कोई सज़ा से मुक्ति नहीं चाहता था. नतीजतन उम्र क़ैद मिली. उस वक्त क्रांतिकारियों के सामने भारी चैलेंज रहता था कि लोगों तक अपनी बात कैसे पहुँचाई जाए. भगत सिंह को उनके संगठन की तरफ़ से प्रचार का जिम्मा मिला था, सो उन्होंने ऐसे निभाया. यदि भगत सिंह माफ़ी माँगते तो जनता में संगठन और उनकी छवि क्या बनती ये आप सोच सकते हैं, इसलिए वे ख़ुद भी चाहते थे कि केस पूरा चले और सज़ा हो.

अब कहानी में ट्विस्ट आया.

असेंबली कांड से 4 महीने पहले भगत सिंह ने लाहौर में सांडर्स की हत्या की थी. पुलिस को तब तक कोई सुराग हाथ नहीं लगा था लेकिन भगत सिंह के दो साथियों ने उनके खिलाफ़ अब गवाही दे दी थी. परिणाम ये हुआ कि भगत सिंह पर अब सांडर्स वाला केस चलने लगा. इस दौरान सेंट्रल एसेंबली में जिन्ना से लेकर मोतीलाल नेहरू जैसे कांग्रेसी नेता तक भगत सिंह और उनके साथियों के हक़ में आवाज़ उठाते रहे. पंजाब की एसेंबली से दो कांग्रेस मेंबरों ने इस्तीफ़ा भी दे दिया. लाहौर वाले मुक़दमे में भगत और उनके साथियों की पैरवी में कांग्रेस नेता और लाला लाजपत राय के शिष्य गोपीचंद भार्गव समेत कई लोग आगे आए. जेल में उनसे मिलने जवाहरलाल नेहरू, नेताजी सुभाष, मोतीलाल नेहरू, रफ़ी अहमद किदवई जैसे बड़े नेता जाने लगे. अब तक मीडिया में मुक़दमा बड़ा बना हुआ था, लेकिन राष्ट्रीय नेताओं की दिलचस्पी ने इसका महत्व और बढ़ा दिया. इस बीच क्रांतिकारियों की भूख हड़ताल ने भी देश को झकझोर दिया था. अंग्रेज़ सरकार ने एकतरफा मुक़दमा चलाया, जिसे भगत सिंह ने ढकोसला बताते हुए सुनवाई में व्यवधान पैदा किए. उनको मारा पीटा गया लेकिन वे कोर्ट में अधिकतर बार नहीं आए. आखिरकार सरकार ने फाँसी की सज़ा सुना दी.

यहाँ से लोगों में मायूसी और भगत की फाँसी टलवाने की कोशिशें शुरू होती हैं. बहुत से लोग इस पर बहुत कुछ लिख चुके हैं. मैं जो लिखूँगा, वह इतिहासकार अशोक कुमार पांडेय, बी एन दत्ता, यशपाल, नेताजी सुभाष, नेहरू, भारत सरकार के पास उपलब्ध रिपोर्ट्स, भगत के ख़तों और उनके साथियों के लेखों के आधार पर लिखने जा रहा हूँ.

उस दौर में गांधी और तब के वायसराय इरविन के बीच मुलाक़ातें जारी थीं. सरकार चाहती थी कि देश में जो तनातनी का माहौल कांग्रेस ने बना रखा है, उसे थोड़ा थामा जाए. बहुत से राजनीतिक कार्यकर्ता जेलों में ठूँसें जा चुके थे. तब के वायसराय इरविन और गांधी किसी समझौते तक पहुँचने की कोशिश कर रहे थे. लोग कहते हैं कि यही मौका था कि गांधी को भगत सिंह की फांसी रुकवाने की शर्त रख देनी चाहिए थी.ऐसे लोग न इतिहास से वाकिफ हैं और न इरविन की सीमाओं से.

असहयोग आंदोलन में पुलिस ने बहुत सारे कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को पीटा था. नृशंसता की हद ये थी कि न्यूयॉर्क टेलिग्राम के रिपोर्टर वेब मिलर ने माना कि अपनी 22 देशों में 18 साल की रिपोर्टिंग के दौरान ऐसी क्रूरता उन्होंने नहीं देखी थी. गांधी चाहते थे कि जो समझौता होने जा रहा है, उसमें इरविन ये भी जोड़ दें कि कांग्रेसियों और आम लोगों पर जो बर्बरता हुई है, उसमें एक कमीशन पुलिस के

रोल की जाँच करे. इस पर बंबई के गवर्नर साइक्स समेत 7 गवर्नरों ने वायसराय को इस्तीफ़े की धमकी दे दी. इरविन ने गांधी को इनकार कर दिया.

अब बात भगत सिंह की फाँसी पर. पंजाब की ब्रिटिश पुलिस अपने दो सहयोगियों को खोने के बाद तमतमाई हुई थी. इसी संगठन ने उसके अगले साल इरविन की ट्रेन उड़ाने की कोशिश की थी. इसके बाद पंजाब के गवर्नर पर हमला हो गया. पुलिस अफ़सरों पर तो हमले होने ही लगे थे. उस वक्त की ख़ुफिया रिपोर्ट्स इसकी गवाह हैं. सब भारत सरकार के अभिलेख पोर्टल पर पड़ी हैं. बड़ी मुश्किल से पंजाब पुलिस को सांडर्स के हत्यारों का पता चला था और अब वे किसी क़ीमत पर उन्हें बख्शना नहीं चाहते थे. इरविन पर पंजाब पुलिस के अफ़सरों ने कितना प्रेशर बनाया इसका जिक्र कम से कम दो जगहों पर तो है ही. एक तो इरविन के करीबी लंदन के न्यूज़ क्रॉनिकल के रिपोर्टर बर्नेस भारत में मौजूद थे. उन्होंने लिखा कि वायसराय अगर फाँसी माफ़ कर देते तो संभव था कि पंजाब का हर पुलिस प्रमुख इस्तीफ़ा दे देता. 22 मार्च 1931 के द पीपल में छपा था कि पंजाब के कुछ अधिकारी इरविन पर भगत को फाँसी देने का दबाव बना रहे हैं. कुछ ने इस्तीफ़े तक की धमकी दी है.

इरविन की हालत ख़राब थी. लंदन में बैठे पीएम का भरोसा तो उन्हें प्राप्त था, लेकिन उसी पार्टी के चर्चिल, बर्कनहेड जैसे नेता उनके प्रदर्शन पर नज़र रखे हुए थे. वे गांधी और दूसरे बड़े नेताओं को रिहा करने पर नाखुश थे. ऐसे में इरविन भगत की फाँसी माफ़ कर ही नहीं सकते थे. काफ़ी बातें तो उन्होंने अपनी आत्मकथा में भी लिखी हैं. आखिरकार 23 मार्च को गांधी ने उन्हें अंतिम ख़त लिखा. गांधी ने जो लिखा उसका सार यही था कि शांति के हित में आखिरी अपील कर रहा हूँ. आपने हालाँकि फाँसी माफ़ करने से इनकार कर दिया है लेकिन सही हो चाहे ग़लत, लोग सजा में रियायत चाहते हैं. जब कोई सिद्धांत दांव पर न लगा हो तो लोगों की बात मान लेनी चाहिए. यदि मौत की सज़ा दी गई तो शांति ख़तरे में पड़ जाएगी. क्रांतिकारी दल ने मुझे आश्वासन दिया है कि फांसी माफ़ हो गई तो वे लोग भविष्य में ऐसी घटना भी नहीं करेंगे. आगे गांधी ने कहा कि मौत की सज़ा पर यदि अमल हो गया तो सजा वापस नहीं ली जा सकेगी, इसलिए आगे विचार करने के लिए फिलहाल तो इसे टाल ही दें. वे ये भी कहते हैं कि इस बारे में बातचीत के लिए आप बुलाएँगे तो आ भी जाऊँगा क्योंकि वे कराची में कांग्रेस अधिवेशन के लिए निकल रहे थे. आखिर में इरविन के धार्मिक रुझान को जानते हुए उनकी संवेदनशीलता जगाने के लिए बाइबिल से एक लाइन भी उद्धृत करते हैं- दया कभी निष्फल नहीं जाती.

इरविन नहीं माने. फाँसी 24 मार्च को होनी थी, लेकिन नेताओं और जनता में जैसा आक्रोश था, उसे देखकर एक दिन पहले ही दे दी गयी. सच तो ये है कि जब ये ख़त लिखा जा रहा था, उसी समय सबसे छिपाकर फाँसी दी जा रही थी क्योंकि वह किसी भी क़ीमत पर टाली ही नहीं जानी थी. यहाँ तक कि इरविन ने अपनी आत्मकथा में लिखा है जब गांधी ने कहा था कि उन्हें डर है, यदि भगत के मृत्युदंड पर मैंने कुछ नहीं किया तो समझौता टूट सकता है. मैंने कहा इसका दुख मुझे भी होगा, लेकिन मेरे लिए यह बिल्कुल असंभव है कि भगत सिंह के मृत्युदंड के मामले में कोई छूट दे सकूँ.

ये भी याद रखा जाना चाहिए कि अंग्रेज़ इस मामले को हत्या की तरह देखते थे न कि कोई राजनीतिक कृत्य. गांधी भी मानवता के नाते ही कोशिशें कर रहे थे. यहाँ तक कि अब तक असेंबली कांड पर बोल रहे जिन्ना हत्या के मामले में चुप रहे. टैगोर चुप थे. आंबेडकर ख़ामोश थे. संघ नेताओं या सावरकर का भी कोई प्रयास अब तक पता नहीं है. कुल मिलाकर चौतरफ़ा चुप्पी थी. हत्या का बचाव करना और मुश्किल इसलिए हो रहा था, क्योंकि भगत अपना बचाव ख़ुद नहीं करना चाहते थे. उनके अपने साथियों ने सरकारी गवाह बनकर जो ग़द्दारी की वह अलग. भगत सिंह माफ़ी भी माँगने को राज़ी नहीं थे और न किसी और को माँगते देखना चाहते थे. वे बार बार कह रहे थे कि उनका फाँसी पर चढ़ जाना ही ठीक है. यहाँ तक कि जब उनके पिता किशन सिंह ने डिफ़ेंस कमेटी बनाकर ट्रिब्यूनल के सामने भगत का बचाव करना चाहा तो वो नाराज़ हुए और पिता सख़्त ख़त लिखा. इसके उलट भगत ने सरकार से कहा कि फाँसी लगाने के बजाय उन लोगों को गोली मार दी जाए, क्योंकि वे युद्धबंदी हैं.

ये सच है कि गांधी ने कहा था कि यदि सरकार फाँसी देने पर उतारू ही है तो कराची में शुरू होने जा रहे कांग्रेस अधिवेशन से पहले दे दे. ऐसा उन्होंने इसलिए कहा क्योंकि वे फाँसी माफ़ कराना चाहते थे, लेकिन इरविन बस इतनी छूट देने को राज़ी थे कि कांग्रेस का अधिवेशन आराम से निपटा लीजिए. गांधी इसे निर्ममता मान रहे थे, क्योंकि फाँसी में देरी से सबको आस बंधती कि शायद सज़ा बदली जा रही है. गांधी ये भी चाहते थे कि साल में एक बार होने वाले कांग्रेस अधिवेशन से पहले ही यदि पता चल जाए कि फाँसी दी जा रही है तो कम से कम उस आयोजन में ही इस पर बात हो और आगे की रणनीति बने. ऐसे में दो चार दिन के लिए फाँसी रोके जाने का कोई तुक नहीं था. भगत सिंह के साथी रहे चमनलाल ने कराची जा रहे गांधी के साथ ट्रेन में सफ़र किया था. पूरे रास्ते वे गांधी का अपमान करते रहे. गांधी बस सुनते रहे. चमनलाल ने बाद में अपने संस्मरण में लिखा कि गांधी ने कहा- मैंने वह सब कुछ किया जो कर सकता था, लेकिन पंजाब से पड़ने वाले दबाव के चलते इरविन मजबूर थे.

कराची अधिवेशन में भी गांधी ने भगत सिंह के तौर तरीक़ों से असहमति जताई, लेकिन बहादुरी की तारीफ़ की. कराची के रास्ते में कुछ नौजवानों ने उनका विरोध किया, वह भी चुपचाप झेला. कराची अधिवेशन में भगत के संदर्भ में बोलते हुए गांधी ने कहा था- 'आपको जानना चाहिए कि खूनी को, चोर को, डाकू को भी सजा देना मेरे धर्म के विरुद्ध है। इसलिए इस शक की तो कोई वजह ही नहीं हो सकती कि मैं भगत सिंह को बचाना नहीं चाहता था।' इस सभा में नौजवान भारत सभा के सदस्य भी बड़ी संख्या में मौजूद थे. चमनलाल जो नौजवान भारत सभा के सचिव भी थे, वे तो गांधी के अन्यतम सहयोगियों में से ही थे और वहां भी उनके साथ ही थे. इतने संवेदनशील और

भावुक माहौल में भी गांधी पूरे होश में और पूरी करुणा से अपनी बात रख रहे थे। तभी किसी ने चिल्लाकर पूछा- 'आपने भगत सिंह को बचाने के लिए किया क्या? इस पर गांधी ने जवाब दिया- मैं यहां अपना बचाव करने नहीं बैठा था, इसलिए मैंने आपको विस्तार से यह नहीं बताया कि भगत सिंह और उनके साथियों को बचाने के लिए मैंने क्या-क्या किया. मैं वाइसराय को जिस तरह समझा सकता था, उस तरह से मैंने समझाया. समझाने की जितनी शक्ति मुझमें थी, सब मैंने उन पर आजमा देखी. भगत सिंह की परिवारवालों के साथ निश्चित आखिरी मुलाकात के दिन यानी 23 मार्च को सवेरे मैंने वायसराय को एक खानगी (अनौपचारिक) खत लिखा.उसमें मैंने अपनी सारी आत्मा उड़ेल दी थी. पर सब बेकार हुआ।'

ये भी याद रहे कि इस अधिवेशन में खुद भगत सिंह के पिता किशन सिंह ने भी हिस्सा लिया.ये भी ध्यान रहे कि डॉ नारायणराव सावरकर तक ने वैचारिक असहमति के बावजूद गांधी से अपील की थी कि उनके दोनों भाइयों की सज़ा में रियायत करा दें. गांधी ने ऐसा किया भी. विक्रम संपत की किताब 'सावरकर' कहती है कि 26 मई 1920 में गांधी ने यंग इंडिया में 'सावरकर बंधु' नाम से लेख लिखा. बाबाराव सावरकर के घर-परिवार का हवाला देकर गांधी ने लिखा कि उन्होंने कोई हिंसा नहीं की. विनायक सावरकर के लिए लिखा कि लंदन में उनका शानदार करियर रहा है और उन पर हिंसक गतिविधि का कोई आरोप साबित नहीं होता है. गांधी अपने लेख में सावरकर भाइयों की याचिका को ही आधार बनाकर ब्रिटिश सरकार से उन पर भरोसा करने के लिए कह रहे थे. सरकार तुरंत तो नहीं मानी लेकिन फिर साल भर में सावरकर बंधुओं को काला पानी से भारत शिफ्ट कर दिया.धुर विरोधियों तक के लिए उदार गांधी पर आरोप लगाना कि उन्होंने जानबूझकर भगत सिंह को मरने दिया, अज्ञानता तो है ही मगर यदि कोई इतनी जानकारियों के बावजूद अड़ा रहे तो यही मानिए कि यह केवल निहित राजनीतिक जिद्द है, और कुछ नहीं।

- संकलित

प्यार तेरा पानियों सा बहता रहे

❑ राजीव नयन बहुगुणा

कृष्ण कल्पित की एक कविता का भावार्थ कुछ इस तरह है— एक शराबी यह सोचता है कि न जाने उस देश में शराब में मिलाने को पानी होगा भी या नहीं और अगर होगा, तो किस तरह का होगा।

फ़िराक़ गोरखपुरी इसी कारण 'सोवियत भूमि नेहरू सम्मान' ग्रहण करने मास्को नहीं गए, जबकि उस वक्त भारत के वामपंथी कवि, शायर यह सम्मान लेने मास्को जाने को आतुर रहते थे, क्योंकि वहां 15 दिन का आतिथ्य और लौटती बेर में एक गर्म ओवर कोट भी मिलता था, जिसे कई तो भारत लौटने पर गर्मी में भी पहने रहते थे, ताकि जिसे पता नहीं है, वह भी जान जाए कि शायर मास्को गए थे।

इसी तरह बोतल बन्द पानी का सर्वथा परित्याग करने के बाद मुझ चिरप्रवासी को अब यह सोचना पड़ता है कि जिस इलाके में जा रहा हूँ, वहां नदी, निर्झर, तालाब कुआं अथवा प्रपात का पानी पीने को मिलेगा, अथवा नहीं! क्योंकि अब मैं सिर्फ यही पानी पीता हूँ।

इस संदर्भ में एक रोचक प्रसंग, जो मैंने कभी सेठ घनश्याम दास बिड़ला की जीवनी में पढ़ा था। लगभग 90 साल पहले जब गांधी गोल मेज़ सम्मेलन में शरीक होने जलयान से बिलायत रवाना हुए, तो उसी यान में महामना पंडित मदन मोहन मालवीय भी समान उद्देश्य से सफ़र कर रहे थे। गांधी तीसरे दर्ज़े के यात्री थे, जबकि महामना अपने यजमान सेठ बिरला के साथ पहले दर्ज़े में विराजित थे। यह बात अलग थी कि जहाज़ का अंग्रेज़ कप्तान अधनंगे फ़क़ीर को प्रायः अपने केबिन में बिठाये रखता और कभी कभी उनसे जहाज़ भी चलवाता था।

महामना पीने के लिए सिर्फ गंगा जल बरतते थे। जहाज़ में माल लदान के वक्त कुछ ऐसी गड़बड़ी और हड़बड़ी मची, कि महामना का वह सुदीर्घ ताम्रपात्र कहीं बाहर ही छूट गया, जिसमें उनके लिए पूरे प्रवास लायक़ पेयजल संचित था।

एक-दो दिन तो झोले अथवा गले में टँगी गंगा जली से निकल गए, लेकिन उसके बाद महामना ने जलयान का अपवित्र पानी पीने से मना कर जल-त्याग कर दिया। ब्रह्महत्या की नौबत आते देख पूरे यान में चिंता व्याप गयी। गांधी तक खबर पहुंची, तो वह भी दौड़े चले आये, और आपद्धर्म का वास्ता देकर महामना से जल ग्रहण करने की अभ्यर्थना की। लेकिन ब्राह्मण देव टस से मस न हुए।

निदान, जहाज़ के कप्तान को जुगत सूझी। उसने घोषित किया कि निश्चित रास्ते से तनिक हट कर खाड़ी के अमुक देश में एक पवित्र आबशार (झरना) है। विश्व भर के मुस्लिम उस झरने का पानी भर भर कर ले जाते हैं। वह झरना भी उतना ही पवित्र है, जितना गंगा जल। मैं जहाज़ को उस किनारे लिए चल रहा हूँ। इस प्रस्ताव पर महामना सहमत हो गए। जहाज़ को तेज हांकते हुए क्रिस्तान जलयान नाविक यूथ प्रमुख ने डेढ़ दिन में यान को पवित्र निर्झर के किनारे ला टिकाया। इस बीच गांधी जी अपनी बकरी के दूध में से अपना हिस्सा काटकर महान ब्राह्मण को पिलाते रहे, ताकि डिहाइड्रेशन न हो।

यह अलग प्रसंग है कि उस मुस्लिम देश के तट पर गांधी का यान अकस्मात आने की खबर पाते ही अड़ोस पड़ोस के तमाम मुस्लिम धर्माधिपति, सुल्तान और बादशाह गांधी के दर्शनों को आ जुटे। जहाज़ में सवार भारतीय मुस्लिम नेताओं की ओर उन्होंने झांका भी नहीं। बल्कि एक भारतीय मुस्लिम धर्माधिपति ने जब बीच में घुसना चाहा, तो अरब के एक अमीर ने उसकी तोंद पर अपनी छड़ी टिकाकर उसे परे ठेल दिया।

अरब के पवित्र स्रोत से जल भरा गया और महामना ने गंगास्तुति के उपरांत अपने जल अनशन का उद्यापन किया। इस तरह एक मुसलमान झरने ने महान हिन्दू नेता के प्राणों की रक्षा की।

बोतल बन्द पानी न पीने के मेरे संकल्प का निमित्त सिर्फ यह है कि दुष्ट बहुर्राष्ट्रीय कंपनियां तथा अम्बानी-अडानी अथवा उनके भाई बिरादर हमारी नदियों, स्रोतों और भूगर्भ से हमारा पानी मुफ्त में खींच कर हमीं को दूध के भाव बेच रहे हैं, वह भी कीटनाशक ज़हर मिला कर। ❑

साम्प्रदायिकता ही देशद्रोह है

❑ मयंक सक्सेना

अपने एक लेख में जवाहर लाल नेहरू कहते हैं—'हम धर्मनिरपेक्ष भारत के बारे में बात करते हैं, इसका तात्पर्य ऐसे राज्य से है जो सभी प्रकार के मतों को समान अवसर तथा सम्मान देता है, जो एक राज्य के रूप में खुद को किसी भी धर्म या विश्वास से सम्बद्ध नहीं रखता, इस प्रकार यह एक राज्य धर्म बन जाता है। भारत में धार्मिक सहिष्णुता का लम्बा इतिहास रहा है। यह धर्मनिरपेक्ष राज्य का मात्र एक पहलू है। भारत जैसे बहुधर्मी देश में धर्मनिरपेक्षता के अभाव में वास्तविक राष्ट्रवाद का निर्माण करना दुष्कर है। कोई भी संकीर्ण सोच जनसंख्या का अनिवार्य रूप से विभाजन करती है और उस स्थिति में राष्ट्रवाद भी अपने सीमित अर्थों में सामने आता है।'

ज़ाहिर है कि इस देश का एक आज़ाद देश के तौर पर पहला सपना, धर्मनिरपेक्ष देश बनना ही था, जहां की सत्ता धर्म पर नहीं अपितु मनुष्य की स्वतंत्रता और मानवता के मूल सिद्धांतों पर आधारित हो। संविधान के पहले पृष्ठ पर अंकित प्रस्तावना, यह साफ कर देती है कि भारत एक गणतंत्र के रूप में क्या है और उसे कैसा रहना चाहिए। निश्चित तौर पर भारत एक धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र है और आज़ादी की लड़ाई में अलग-अलग विचारों के साथ लड़ रहे, एक-एक व्यक्ति का स्वप्न यही था। जी हां, धर्मनिरपेक्षता ही इस देश का एकमात्र मूलभूत सिद्धांत है, जिस पर किसी प्रकार का समझौता करना दरअसल भारत के पूरे विचार से ही समझौता करने के समान है।

1940 में जब मुस्लिम लीग ने ज़ोर-शोर से पाकिस्तान की मांग उठानी शुरू की, तब लाहौर अधिवेशन में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था—'हिंदुस्तान की धरती पर इस्लाम को आए ग्यारह शताब्दियाँ गुजरी हैं। यदि हिंदू धर्म कई हजार वर्षों से इस भूमि के निवासियों का धर्म रहा है तो इस्लाम भी एक हजार वर्ष से इसके निवासियों का धर्म चला आता है। जिस प्रकार आज एक हिंदू गौरव के साथ यह कहता है कि वह हिंदुस्तानी है और हिंदू धर्म को मानने वाला है, ठीक उसी प्रकार हम भी गौरव के साथ कह सकते हैं कि हम हिंदुस्तानी हैं और इस्लाम धर्म को मानने वाले हैं। इसी तरह ईसाई भी यह बात कह सकते हैं।'

हालांकि मूलभूत रूप से दुनिया में किसी भी देश, सरकार और संविधान को धर्मनिरपेक्ष होना ही चाहिए।लेकिन सवाल ये है कि दुनिया के तमाम देशों में इस प्रकार की भौगोलिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विविधता नहीं है, जैसी भारत में है। इसलिए साम्प्रदायिकता से आज़ादी पाना हमारे लिए सबसे बड़ी आवश्यकता और चुनौती है। एक देश में ऐसी विविधता होने के कारण ही आज़ादी की लड़ाई, किसी धर्म के लोगों की लड़ाई नहीं थी, बल्कि एक साझा लड़ाई थी, जो धर्म, पंथ और संस्कृति की तमाम भिन्नताओं के बावजूद एक साथ लेकिन एक-दूसरे से अप्रभावित रहने की आज़ादी की लड़ाई थी। साम्प्रदायिकता को लेकर आज़ादी के आंदोलन के नायकों का नज़रिया क्या था और वे इसको लेकर किस कदर गंभीर थे। इसका अंदाज़ा बंटवारे के समय की एक घटना से लगाया जा सकता है। सितंबर 1947 में सरदार पटेल को पता लगा कि अमृतसर से गुजरने वाले मुसलमानों के काफिले पर वहां के सिख हमला करने वाले हैं। सरदार पटेल अमृतसर गए और वहां करीब दो लाख लोगों की भीड़ जमा हो गई, जिनके रिश्तेदारों को पश्चिमी पंजाब में मार डाला गया था। उनके साथ पूरा सरकारी अमला था और उनकी बहन भी थीं। भीड़ बदले के लिए तड़प रही थी और कांग्रेस से नाराज थी। सरदार ने इस भीड़ को संबोधित किया और कहा—'इसी शहर के जलियांवाला बाग की माटी में आज़ादी हासिल करने के लिए हिंदुओं, सिखों और मुसलमानों का खून एक दूसरे से मिला था। मैं आपके पास एक ख़ास अपील लेकर आया हूं। इस शहर से गुजर रहे मुस्लिम शरणार्थियों की सुरक्षा का जिम्मा लीजिए। एक हफ्ते तक अपने हाथ बांधे रहिए और देखिए क्या होता है। मुस्लिम शरणार्थियों को सुरक्षा दीजिए और अपने लोगों की ड्यूटी लगाइए कि वे उन्हें सीमा तक पहुंचा कर आएं।'

इस घटना से समझा जा सकता है कि देश की बुनियाद धर्म निरपेक्षता पर है, क्योंकि धर्मनिरपेक्षता के बिना लोकतंत्र भी संभव नहीं है। किसी एक धर्म के प्रभाव, राज या नियमों के अंतर्गत, जब बाकी धर्मावलम्बियों या नास्तिकों के अधिकार सुरक्षित नहीं, तो लोकतंत्र कैसे सुरक्षित रह सकता है? महात्मा गांधी को पढ़ते हुए हम पाते हैं, कि वह एक धर्म में आस्था रखते हुए भी बाकी धर्मों की आज़ादी को लेकर किस कदर चिंतित थे। क्योंकि वह जानते थे कि लोकतंत्र और स्वतंत्रता, दरअसल धर्म की नहीं, मानवमात्र की स्वतंत्रता और निजता की लड़ाई है। वे कहते हैं—'अगर हिंदू मानें कि सारा हिंदुस्तान सिर्फ हिंदुओं से भरा होना चाहिए, तो यह एक निरा सपना है. मुसलमान अगर ऐसा मानें कि उसमें सिर्फ मुसलमान ही रहें, तो उसे भी सपना ही समझिए. फिर भी हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई जो इस देश को अपना वतन मानकर बस चुके हैं, एक देशी, एक-मुल्की हैं, वे देशी-भाई हैं और उन्हें एक -दूसरे के स्वार्थ के लिए भी एक होकर रहना पड़ेगा.'

संविधान सभा में डॉ. अम्बेडकर ने अपने एक भाषण में कहा—'धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह नहीं है कि वह लोगों की धार्मिक भावनाओं का ध्यान नहीं रखेगा। धर्मनिरपेक्ष राज्य का तात्पर्य यह है कि संसद जनता पर कोई एक धर्म नहीं थोप पाएगी। यह एक सीमा है, जिसे संविधान मान्यता देता है।'

ज़ाहिर है कि देश के लिए अभी के समय में सबसे बड़ा ख़तरा साम्प्रदायिकता है। एक धर्म विशेष के नाम पर ध्रुवीकरण कर के, साम्प्रदायिक और फासीवादी शक्तियां, सत्ता में जा बैठी हैं। देश में कभी योग के प्रचार, कभी जय हिंद की जगह जय भारत लिख कर, कभी बीफ़ पर बैन लगा कर तो कभी साम्प्रदायिक भाषणों को खुली छूट दे कर युवाओं की बड़ी संख्या को भी साम्प्रदायिकता की अफीम चटाई जा रही है। ऐसे में हमको जड़ों की ओर लौटना होगा। संविधान और आज़ादी की लड़ाई के मूल उद्देश्य को जन-जन तक पहुंचाना होगा। मानवाधिकारों की लड़ाई को मज़बूत करना होगा और दंगों को चुपचाप देखने की जगह, आगे बढ़ कर प्राण की बाज़ी लगा कर भी अमन लाने के प्रयास करने होंगे।

आज जब हम गांधी की छवि मलिन करने वालों, उनकी हत्या करने वालों या उसका समर्थन करने वालों के हाथ में देश सौंपे बैठे हैं, तो यह समझना होगा कि दरअसल इस पूरी प्रक्रिया में देश की आज़ादी के लड़ाकों समेत उस पूरी पीढ़ी के आज़ाद हिंदुस्तान का सपना दांव पर लगा है। आखिर स्वतंत्रता एक सपना था, जिसे सच किया गया..उस सपने को धूल में मिलने से बचाना होगा, क्योंकि करोड़ों लोगों का साझा हिंदुस्तान, करोड़ों लोगों का साझा सपना है। जिसे फासीवाद के हाथों सौंप देना, सपने का नहीं, समूची भारतीयता और इंसानियत का क़त्ल होगा। समझना होगा कि भारतीयता और इंसानियत कोई अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं। देश सबसे बड़ा है और देश धर्मनिरपेक्षता की नींव पर हासिल हुआ था। तय कीजिए, आप देश के साथ हैं और गांधी के साथ हैं या फिर साम्प्रदायिकता के, क्योंकि साम्प्रदायिकता से बड़ा देशद्रोह कुछ नहीं हो सकता है। ❑

सांप्रदायिकता की समस्या और गांधी

❑ नारायण देसाई

भारत पिछले हजार सालों या उससे अधिक समय के अपने इतिहास में दुनिया के दो संगठित धर्मों के सह-अस्तित्व का साक्षी रहा है। हिंदू धर्म, जो कि अपने नाम से बहुत ज्यादा पुराना है, दुनिया का सबसे प्राचीन संगठित धर्म है। सिख धर्म के अपवाद को छोड़ दें, तो इस्लाम शायद दुनिया का सबसे नया संगठित धर्म है। मुसलिम इस देश में सदियों से सबसे बड़े अल्पसंख्यक समुदाय रहे हैं। हिंदुओं और मुसलमानों के सह-अस्तित्व का इतिहास मिश्रित रहा है। इसमें हिंसा का विस्फोट भी रहा तो सौहार्दपूर्ण शांति के दौर भी रहे हैं। जाति, संप्रदायवाद और राजनीतिक तथा आर्थिक निहित स्वार्थ जैसे कारकों ने स्थिति को और भी अनिश्चित व जटिल बनाया है। राजनीतिकों और इतिहासकारों, दोनों ने स्थिति का विश्लेषण अपनी समझ और अपने झुकाव के हिसाब से किया है, और कभी-कभी इतिहास की दो बिलकुल विपरीत व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। इन विभिन्न व्याख्याओं ने कभी-कभी सौहार्द की समस्या के एक दूसरे से एकदम भिन्न समाधान सुझाए हैं। इनमें ऐसी व्याख्याएं भी हैं, जो दोनों समुदायों के रिश्ते को सामंजस्य से लगभग परे मानते हुए कहती हैं कि यह रिश्ता इतिहास के क्रम में विभाजन और बरबादी की तरफ जा रहा है, और दूसरी तरफ ऐसी व्याख्याएं भी हैं जो इस अंतर-धार्मिक रिश्ते को दो परंपराओं के एक संस्कृति में घुल-मिल जाने की तरह देखती हैं। हाल के इतिहास में पहली श्रेणी की व्याख्याओं का नेतृत्व राजनीतिक रहा और दूसरी तरह की व्याख्याओं के पीछे धार्मिक या आध्यात्मिक प्रेरणा काम कर रही थी। गांधी की दृष्टि दूसरी श्रेणी में आती है।

भारत में सांप्रदायिकता की समस्या को उलझाने में अंग्रेजी राज की खासी भूमिका रही। सारे साम्राज्यवादी शासन 'बांटो और राज करो' की नीति पर चलते हैं और अंग्रेजी राज इसका अपवाद नहीं था। भारत में अंगरेज प्रशासक हिंदुओं के खिलाफ मुसलमानों को और मुसलमानों के खिलाफ हिंदुओं को भड़काने की कोशिश बरसों-बरस करते रहे। इस नीति ने इस देश में ऐसी स्थिति निर्मित की, जिसे सांप्रदायिक त्रिकोण कहा गया, और बहुत से राष्ट्रवादी नेता इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सांप्रदायिकता की समस्या का एकमात्र समाधान यही है कि इस त्रिभुज से ब्रिटिश आधार को हटा दिया जाए।

जब गांधी दक्षिण अफ्रीका से भारत हमेशा के लिए लौट आए, तो भारत की आजादी के लिए संघर्ष कर रहे राष्ट्रीय नेतृत्व के साथ-साथ उन्हें भी सांप्रदायिकता की जटिल समस्या का सामना करना पड़ा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जो कि उस समय भारत के राष्ट्रवादी बौद्धिकों का प्रतिनिधित्व करती थी, अखंड भारत के दृष्टिकोण के साथ राजनीतिक समस्या का समाधान निकालने की कोशिश कर रही थी। मुसलिम लीग का गठन 1906 में ब्रिटिश प्रशासकों के उकसावे और परोक्ष प्रोत्साहन से हुआ था। कांग्रेस और मुसलिम लीग, दोनों में बहुत से सदस्य ऐसे थे, जो अलग-अलग नजरिये की नुमाइंदगी करते थे। कांग्रेस में अधिकतर लोग इस राय के थे कि ब्रिटिश हुकूमत से एकजुट होकर निपटने के लिए सांप्रदायिकता की समस्या का पारस्परिक सहमति से समाधान निकाला जाए। लेकिन कुछ ऐसे लोग भी थे, जिनकी दिलचस्पी इस बात में ज्यादा थी कि हिंदुओं के हितों के साथ समझौता न हो। मुसलिम लीग, जो पूरे मुसलिम समाज के बजाय अपेक्षाकृत एक छोटे वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी, उसका नेतृत्व बंटा हुआ था, जिसमें एक तरफ मौलाना और मौलवी थे, जो मुसलिम जनसामान्य पर काफी हद तक प्रभाव रखते थे, और दूसरी तरफ, कुछ बुद्धिजीवी थे, जो कमोबेश सेकुलर और रेडिकल थे।

कुछ राष्ट्रीय नेताओं ने कई बार प्रयास किए कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच किसी प्रकार से समझौता हो जाए ताकि अंग्रेजों से आजादी की मांग एक स्वर से की जा सके। लेकिन जब-जब हिंदुओं और मुसलमानों के नेतागण किसी समझौते पर दस्तखत करने को तैयार हो जाते, उसकी भनक लगते ही ब्रिटिश सरकार इधर-उधर कुछ छिटपुट रियायतें देकर समझौता तोड़ देने के लिए अल्पसंख्यक समुदाय को ललचाती थी।

जब गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में ऐतिहासिक सफलता हासिल करके, जिन्हें वहां हिंदुओं और मुसलमानों का समान रूप से समर्थन मिला था, भारत के राजनीतिक परिदृश्य में प्रवेश किया, तो वे स्वतंत्र भारत के उद्देश्य की पूर्ति के लिए, जिसमें सभी नागरिकों को समान अधिकार होंगे, कांग्रेस को व्यापक जनाधार वाले संगठन में बदलना चाहते थे। गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में भी और भारत में भी जो भाषा इस्तेमाल की, वह धार्मिक थी। उनकी जीवन शैली भी साधु-संतों जैसी थी, जो आम लोगों में आदर-भाव जगाती थी। जल्दी ही वे खिलाफत आंदोलन से जुड़ गए, जो धार्मिक के साथ-साथ राजनीतिक आंदोलन भी था। गांधी ने उस समय के राष्ट्रीय आंदोलन के मुख्य मुद्दे यानी असहयोग आंदोलन के साथ खिलाफत के मुद्दे को जोड़ दिया। गांधी खुद खिलाफत आंदोलन से इसलिए जुड़े, क्योंकि उनकी निगाह में अंग्रेजों ने वचन-भंग किया था। अंग्रेजों ने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान वादा किया था कि वे तुर्की में खिलाफत-व्यवस्था में खलल नहीं डालेंगे, और दूसरी तरफ उन्हीं दिनों उन्होंने युद्ध जीतने की सूरत में तुर्की के बंटवारे और मित्र देशों के बीच उसके हिस्से बांट लेने के लिए समझौता-वार्ता भी की। वचन-भंग गांधी के लिए सत्य से संबंध रखने वाला एक नैतिक प्रश्न था और इस मामले में दखल देने के लिए यह पर्याप्त कारण था। दूसरी वजह भारत की जनता के लिए ज्यादा प्रत्यक्ष थी, और वह थी गांधी की यह इच्छा कि मुसलमानों को ब्रिटिश

हुकूमत के खिलाफ आजादी के भारत के संघर्ष की मुख्यधारा में लाया जाए। दूसरी वजह नैतिक से ज्यादा राजनीतिक थी। गांधी का आकलन था कि मुसलिम अमूमन अपने मौलानाओं और मौलवियों से निर्देशित होते हैं और खिलाफत का मुद्दा जुड़ जाने से वे सभी सर्वसम्मत उद्देश्य के लिए मुख्यधारा के साथ सहयोग कर सकते हैं। लेकिन ऐसा लगता है कि हिंदू-मुसलिम एकता के अपने उत्साह में गांधी ने इस तथ्य की अनदेखी कर दी थी कि रूढ़िवादी मुसलिम नेताओं का पक्ष लेना प्रगतिशील मुसलमानों को अनजाने ही सही, उनसे दूर कर देगा। प्रगतिशील मुसलमान शायद कांग्रेस में और मुसलिम लीग में भी किनारे हो जाएंगे। गांधी और कांग्रेस के उस रुख से जो लोग आहत हुए, उनमें मोहम्मद अली जिन्ना भी थे, जो पक्के राष्ट्रवादी मुसलिम थे।

गांधी ने असहयोग आंदोलन और खिलाफत आंदोलन के बारे में बोलते हुए देश-भर का दौरा किया। बहुत सारी जगहों पर अली बंधुओं में से कोई एक या दोनों, उनके साथ रहते। उनकी सभाओं में काफी तादाद में हिंदू और मुसलमान आते थे। लेकिन कालांतर में स्थिति बदल गई। तुर्की की सत्ता कमाल अतातुर्क के हाथों में आ गई। वे लोकहितैषी तानाशाह थे, धार्मिक रूढ़िवाद की तरफ उनका तनिक भी झुकाव नहीं था। खिलाफत के अपने देश तुर्की में खिलाफत की चमक जाती रही। स्वाभाविक ही भारत में भी खिलाफत आंदोलन की हवा निकल गई। गांधी को मौलवियों और मौलानाओं को लेकर कुछ कड़वे अनुभव हुए, जो अंग्रेजों की मेहरबानी हासिल करने के लिए उनकी तरफ झुक गए थे। जिन्ना ने, जो कि एक लिबरल वकील थे, असहयोग आंदोलन की हिमायत नहीं की। एक राष्ट्रवादी मुसलिम बुद्धिजीवी के तौर पर उनका कोई खास जनाधार नहीं था। भारत की राजनीति से निराश होकर, देश के राजनैतिक जीवन में कोई मनोवांछित जगह न मिलने से, उन्होंने सक्रिय राजनीति से अपने कदम पीछे खींच लिये और वकालत के अपने पेशे को ही ज्यादा वक्त देने लगे। फिर वे इंग्लैंड चले गए, जहां उनकी वकालत खूब चली। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में कुछ युवा मुसलिम नेताओं ने उन्हें भारत लौटने और यहां मुसलमानों का नेतृत्व करने के लिए राजी कर लिया। भारत लौटने के बाद जिन्ना कुछ समय तक यह कोशिश करते रहे कि कांग्रेस के साथ किसी प्रकार का सम्मानजनक समझौता हो जाए, पर वे इसमें नाकाम रहे। कुछ अपनी और कुछ दूसरों की सनकों के कारण इस प्रयास में विफल होने के बाद वे लगातार दक्षिणपंथ की तरफ मुड़ते गए और कुछ ही बरसों में मजहबी मुसलिम नेताओं से घिर गए। गांधी और जिन्ना के रुख एक दूसरे से पूरी तरह भिन्न हो गए। जिन्ना जल्दी ही मुसलिम लीग के निर्विवाद नेता हो गए। ब्रिटिश हुकूमत तथा कांग्रेस से और अधिक की चतुराई भरी मांग उठाकर उन्होंने बड़ी चालाकी से अपने प्रतिद्वंद्वियों को पछाड़ दिया और उस लक्ष्य की तरफ बढ़ चले, जिसे उन्होंने आखिरी घड़ी तक अपरिभाषित रखा था। हालांकि स्वभाव से वे आंदोलन वगैरह पसंद नहीं करते थे, पर उनके कदम उन्हें सीधी कार्रवाई की तरफ ले गए। यह जिन्ना द्वारा घोषित 'सीधी कार्रवाई दिवस' ही था, जिसने बड़े पैमाने पर दंगों की शुरुआत की और जिससे विभाजन की पृष्ठभूमि निर्मित हुई। जिन्ना की जीवनी लिखने वालों ने इस तरफ संकेत किया है कि अपने जीवन की अंतिम घड़ियों में वे खुश नहीं थे। पाकिस्तान हासिल होने तक जो मुसलिम नेता उन्हें घेरे रहते थे, मजहबी अस्मिता वाला राज्य हासिल होने के बाद उन लोगों के लिए अब जिन्ना की कोई उपयोगिता नहीं रह गई थी। जिन्ना यों तो खुद पश्चिमी पृष्ठभूमि और लिबरल संस्कृति में रचे-पचे सेकुलर शख्स थे, पर वे अपनी ही बनाई दुनिया के शिकार हो गए, जो दुनिया उन्होंने बड़ी घातक चालाकी से हजारों लोगों की जिंदगी और देश के बंटवारे की कीमत पर बनाई थी।

गांधी ने, जिनका पालन-पोषण धार्मिक परिवेश में हुआ था और जो एक धर्मपरायण व्यक्ति थे, सांप्रदायिक नेताओं के साथ काम करने को राजी हो गए, इस उम्मीद में कि उन लोगों को राष्ट्रीय धारा में ला सकेंगे। पर इस बारे में जल्दी ही उनका मोहभंग हो गया। *जिन सेकुलर नेताओं ने भारत की राजनीतिक आजादी के लिए गांधी के साथ काम किया था, उनकी दिलचस्पी भारत को बेहतर समाज की तरफ ले जाने से कहीं ज्यादा राजनातिक सत्ता हासिल करने में थी। और यह रुझान इस हद तक था कि जब भारत की आजादी और बंटवारे के अंतिम मसविदे पर हस्ताक्षर किए गए, तो इस बारे में गांधी को सूचित तक नहीं किया गया। गांधी ने भारत और पाकिस्तान को दो देश के रूप में स्वीकार करने से मना कर दिया और पश्चिमी पाकिस्तान की यात्रा की तैयारी करने लगे, पर तभी हत्यारे की गोलियों ने उनके इस शांति मिशन का अचानक अंत कर दिया।*

जो लोग हिंदुत्व में विश्वास करते थे उन्हें अपने मकसद में सबसे बड़ी बाधा गांधी नजर आए। गांधी देश की एकता का प्रतिनिधित्व करते थे; वे हिंदू धर्म की उस व्याख्या का भी प्रतिनिधित्व करते थे, जो विश्व-बंधुत्व और 'यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्' में विश्वास करती है। कट्टरवादियों ने अनेक बार उनकी हत्या के प्रयास किए थे। एक नहीं, कई बार हिंदू-मुसलिम एकता के लिए गांधी ने अपना जीवन दांव पर लगाया। हर बार जब गांधी ने इस उद्देश्य के लिए उपवास किया, तो कट्टरवादियों को व्यापक हिंदू समाज की भावना के आगे झुकना पड़ा; लोग प्रार्थना करते कि भगवान गांधी की जिंदगी बचा ले। मुसलिम लीग के 'सीधी कार्रवाई दिवस' के बाद देश में, खासकर उत्तर, उत्तर पूर्व और उत्तर पश्चिम में बने हिंसा के माहौल और बड़े पैमाने पर भड़के दंगों ने हिंदुओं में काफी कटुता भर दी थी। रही सही कसर गांधी के इस आग्रह ने पूरी कर दी कि भारत को विभाजन के समय बनी सहमति के मुताबिक पाकिस्तान को पचपन करोड़ रुपये देने चाहिए। हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों के प्रति समान रूप से न्यायपूर्ण व्यवहार के गांधी के आग्रह ने कट्टरवादियों को यह प्रचार करने का मौका दे दिया कि गांधी हिंदुओं के खिलाफ जाकर मुसलमानों का पक्ष ले रहे हैं। इस बात को कट्टरवादियों ने गांधी पर हमला करने का एक बहाना बताया। कट्टरवादी, जो गांधी को खत्म करने का बरसों से प्रयास कर रहे थे, उन्होंने अपने लक्ष्य की सबसे बड़ी बाधा को हटाने का, अपनी समझ के मुताबिक, मनोवैज्ञानिक क्षण चुना।

गांधी ने अपने जीवन के सबसे कीमती वर्ष हिंदू-मुसिलम एकता को अर्पित कर दिए। दक्षिण अफ्रीका में भी और भारत में भी उनके आश्रमों में रहने वाले उनके अनुयायियों में हिंदू भी थे, मुसलिम भी, ईसाई भी थे और पारसी व यहूदी भी। वे साथ-साथ रहते, साथ-साथ काम करते और साथ-साथ प्रार्थना करते। अलग-अलग धर्म को मानने वाले आश्रमवासी अकसर उनका प्रिय भजन 'वैष्णव जन' गाते, पर एक शब्द के संशोधन के साथ। वैष्णव जन के बजाय वे गाते, एक सच्चे मुसलिम या एक सच्चे ईसाई के लिए, बाकी पूरा आश्रम उत्साह से उनके साथ एक स्वर से गाता था। वे पूरी तरह संतुष्ट थे कि यह गीत उनके अपने आदर्श नायक के गुणों का वर्णन करता है। इससे गांधी के इस विश्वास की पुष्टि होती है कि सभी धर्मों की नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा मूल रूप से समान है।

गांधी के रचनात्मक कार्यक्रम में सांप्रदायिक एकता को प्राथमिकता हासिल थी। खादी और ग्रामोद्योग जैसे दूसरे रचनात्मक कार्यक्रमों से हिंदू और मुसलिम, दोनों लाभान्वित हुए थे। अनेक मुसलिम नेताओं के सामने उन्होंने उचित ही यह दावा किया था कि अन्य कार्यक्रमों की तुलना में खादी से मुसलिम परिवारों को कहीं ज्यादा सहारा मिला। गांधी की अगुआई में हुए साधी कार्रवाई के अहिंसक कार्यक्रमों में भी मुसलमानों ने बड़ी संख्या में भागीदारी की। इंग्लैंड में भी, गोलमेज कॉन्फरेंस के दौरान, गांधी ब्रिटिश राजनेताओं से यह कह सके कि वे अपने जेल रिकार्ड उठाकर देख लें कि कांग्रेस को मुसलमानों का कितना व्यापक समर्थन प्राप्त है।

यहां हम ठहरकर तनिक इस प्रश्न पर विचार करें कि क्या गांधी हिंदुओं या हिंदू धर्म के खिलाफ थे। दक्षिण अफ्रीका में ईसाई और मुसलिम मिशनरियों ने उनके धर्मान्तरण के तमाम प्रयास किए थे, पर वे हिंदू बने रहे। उनकी आध्यात्मिक संदर्भ-पुस्तक भगवद्गीता थी। वे मानते थे कि हिंदू धर्म अधिक से अधिक सहिष्णुता पर आधारित है। उनका हिंदू धर्म संकीर्ण या सांप्रदायिक नहीं था, और यही कारण है कि उनसे कट्टरवादियों को परेशानी होती थी। लेकिन सांप्रदायिकता की समस्या पर उनका दृष्टिकोण पूरी तरह अहिंसक था। एक बार उन्होंने 'हरिजन' में लिखा, ''एक सच्चा धर्म अपने सबसे बुरे उदाहरण से नहीं, बल्कि अपने सबसे उत्तम उदाहरण से जाना जाता है।'' और आजीवन उन्होंने इसी की कोशिश की। उन्होंने विभिन्न धर्मग्रंथों का, उनके प्रति गहरा आदर रखते हुए, अध्ययन किया था, क्योंकि वे मानते थे कि दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता का विकास हमें अपने धर्म के बारे में कहीं ज्यादा सम्यक समझ देगा। गांधी मानते थे कि पारस्परिक सहिष्णुता हर काल में और सभी नस्लों के लिए आवश्यक है। हम शांति से नहीं रह पाएंगे, अगर हिंदू, ईश्वर की आराधना के मुसलिम रूप, उनके ढंग और उनके रीति-रिवाज को सहन नहीं करेंगे, या अगर मुसलमान, हिंदुओं की मूर्तिपूजा के प्रति असहिष्णु होंगे। सहिष्णुता में यह आवश्यक नहीं कि जिसे हम सहन करते हैं, उसे सही मानें। मसलन, गांधी को मद्यपान, मांसाहार और धूम्रपान से सख्त नफरत थी, लेकिन वे अपने हिंदू, मुसलिम और ईसाई मित्रों में इन आदतों को सहन करते रहते थे, वैसे ही जैसे वे उनसे अपेक्षा करते थे कि इन आदतों से पूरी तरह दूर रहने का वे बुरा नहीं मानेंगे। गांधी मानते थे कि सभी झगड़े दूसरों पर अपना दृष्टिकोण थोपने की जिद से पैदा होते हैं। गांधी दक्षिण अफ्रीका से लौटने के पहले से ही मानते थे कि यदि भारत को आजादी हासिल करनी है तो विभिन्न समुदायों के बीच अटूट बंधन कायम करना एक अनिवार्य तकाजा है।

हिंदू धर्म और इस्लाम के दृष्टिकोण एक बिंदु पर आकर मिल जाते हैं। *मुसलिम कट्टरवादी कहते हैं कि हिंदू और मुसलिम दो राष्ट्र हैं, और हिंदू कट्टरवादी कहते हैं कि भारत केवल हिंदुओं के लिए है। यह दिलचस्प है कि सावरकर और जिन्ना, दोनों हिंदुओं और मुसलमानों को 'दो अलग-अलग राष्ट्र' मानते थे। और सावरकर तो इस बात को जिन्ना से बहुत पहले से मानते थे। इस नजरिये की परिणति भारत के विभाजन में हुई और यही नजरिया गांधी की हत्या का कारण बना। ऐसे जघन्य कृत्य किसी के व्यक्तिगत द्वेष या किसी के पागलपन की उपज नहीं होते। ऐसे जघन्य कृत्यों के लिए एक प्रकार की विचारधारा की जरूरत होती है जो हत्यारे को उस हद तक ले जाती है।* पूरी विभाजनकारी विचारधारा हिंदुओं के जातिवाद और मुसलमानों के संप्रदायवाद की देन थी, और इसे बांटो व राज करो की ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीति ने पाला-पोसा था।

यरवदा मंदिर से गांधी ने हम आश्रमवासियों को लिखा था, 'धर्म का सच्चा ज्ञान धर्म और धर्म के बीच के अवरोधों को गिरा देता है।' गांधी अद्वैत में विश्वास करते थे। वे मनुष्य की बुनियादी एकता में यानी जीवनमात्र की एकता में विश्वास करते थे। इसीलिए वे यह भी मानते थे कि अगर कोई एक व्यक्ति आध्यात्मिक उपलब्धि हासिल करता है, तो उसके साथ संपूर्ण विश्व लाभान्वित होता है। इसी तरह जब एक व्यक्ति विफल होता है, तो उस हद तक वह संपूर्ण विश्व की विफलता होती है।

गांधी दक्षिण अफ्रीका में विभाजनकारी विचारधारा के खिलाफ लड़े थे, पर वहां उनका कर्मक्षेत्र सीमित था और विभिन्न हिंदुस्तानी समुदायों का उद्देश्य साझा था। इसलिए वहां उन्हें कहीं अधिक सफलता मिली थी। भारत में उनका काम अधिक जटिल और कठिन था। भारत में बीमारी पुरानी थी और इसे शासकों ने जानते-बूझते पाला-पोसा था। इस बीमारी से लड़ने के लिए गांधी ने बार-बार अपना जीवन दांव पर लगाया। वाइसराय रहे माउंटबेटन ने बंगाल में उनके मिशन को 'एक व्यक्ति की सेना' कहा था, जिसने वह हासिल किया जिसे उनकी पचपन हजार की सेना पश्चिमी मोर्चे पर हासिल नहीं कर सकी थी। गांधी के उपवासों, अहमदाबाद (1919), दिल्ली (1924), कलकत्ता (1946) और एक बार फिर दिल्ली (1947) के चमत्कारी परिणाम हुए और इन उपवासों ने जख्मी दिलों पर मरहम का काम किया, और कम से कम उस समय सांप्रदायिकता के उन्माद को शांत कर दिया था। विभक्त दिलों को जोड़ने के इसी प्रयास में उन्होंने आखिरकार अपने जीवन की आहुति दे दी। उनका जीवन सचमुच संदेश है।

(मूल अंग्रेजी से अनुवाद- राजेंद्र राजन) ❑

धर्म और राजनीति का घालमेल

कैसे रुके वर्चस्व का खेल!

❑ अरुण तिवारी

राजनीति, इहलोक का विषय है और धर्म, परलोक का। कह सकते हैं कि दोनो में घालमेल ठीक नहीं है; फिर भी यह हमेशा से होता रहा है।

क्यों?

क्योंकि इस घालमेल का एक ही मकसद रहा है - वर्चस्व, वर्चस्व और वर्चस्व। धर्म के वर्चस्व के लिए राजनीति का इस्तेमाल, राजनैतिक वर्चस्व के लिए धर्म का इस्तेमाल। इतिहास गवाह है कि कोई धर्म, कोई संप्रदाय, कोई जाति सिर्फ श्रेष्ठता के आधार पर इस दुनिया में वर्चस्व हासिल नहीं कर सके। वर्चस्व के इस खेल में ईसाई धर्म के संस्थापक ईसा मसीह को एक रोमन सामंत ने सूली पर चढ़ा दिया। प्रोस्टेटों से असुरक्षा का बोध होते ही कैथोलिक कट्टरता पर उतर आये। तुर्की साम्राज्य ने अपने आतंक से ग्रीक आर्थोडॉक्स चर्च को भगाया। आयरलैंड में प्रोस्टेट और कैथोलिकों के बीच हिंसात्मक द्वंद होते 300 से अधिक वर्ष हो चुके हैं। ईरान-इराक में शिया-सुन्नी फिरकों को लेकर दस साल युद्ध चला ही। इजरायल में यहूदियों के साथ यूरोपियों के अपराध याद कीजिए। अग्नि पूजक पारसियों को देश से बाहर निकालकर ही इस्लाम ईरान पर वर्चस्व हासिल कर सका। इंडोनेशिया, मलेशिया, भारत आदि दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में अपना वर्चस्व जमाने के लिए भी इस्लाम ने यही किया। यह बात और है कि एक दौर के राजनैतिक वर्चस्व के बावजूद इस्लाम, भारत में एक अल्पसंख्यक संप्रदाय बना हुआ है।

इलेक्ट्रॉनिक्स माध्यमों के प्रभाव में जब परम्परागत इस्लामी जीवन प्रणाली ध्वस्त होने लगी, तो आयतुल्ला खुमैनी के नेतृत्व में ईरान एक ऐसी इस्लामी क्रांति के रंग में रंगा कि दुनिया की तमाम इस्लामी आबादी को कट्टरता की चपेट में ले लिया। भारत में इस्लाम के प्रवेश से पूर्व, शैव, वैष्णव, शाक्तों में भीषण और हिंसात्मक संघर्ष हुए। लिंगायत कहे जाने वाले दक्षिण के शैवों के विरुद्ध 150-200 साल अभियान चला। हिंदुओं और बौद्धों में एक समय इतना युद्ध हुआ कि एक समय भारत से बौद्ध धर्म का देश निकाला ही हो गया था। जैनियों ने तो एक वक्त गुफाओं और निर्जन प्रदेशों में रहकर अपना अस्तित्व बचाया।

वर्चस्व के लिए धर्म-सम्प्रदायों का यह इस्तेमाल कब बंद हो सकता है? जब धर्म-सम्प्रदायों के बीच अपना वर्चस्व सिद्ध करने की होड़ खत्म हो; जब एक राजनीतिक दल व व्यक्तियों को दूसरे राजनीतिक दल व व्यक्तियों पर वर्चस्व करने की जरूरत ही न महसूस हो। किंतु यह तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि धर्म प्रमुखों के लिए धर्म, और राजनीतिज्ञों के लिए राजनीति, सत्ता का विषय है।

कहना न होगा कि जब तक धर्म प्रमुखों के पद, उनसे जुड़ा पैसा व संपत्ति आकर्षण के बिंदु बने रहेंगे, धर्म प्रमुखों के लिए धर्म, सत्ता का विषय बना रहेगा। जब तक सामाजिक और संवैधानिक रूप से सभी धर्मों का बराबर सम्मान स्वीकार नहीं लिया जाता, दो धर्मों के बीच वर्चस्व का द्वंद कभी खत्म नहीं होगा।

जहां तक राजनीति का सवाल है, गौर कीजिए कि राजनीति का मतलब होता है, राज करने की नीति। नीति और नीयत राज करने की हो, तो सत्ता भी होगी और उसके वर्चस्व के लिए संघर्ष भी; और उसका मजहबी इस्तेमाल भी। एक राजा होगा, तो दूसरा प्रजा; कोई शासक होगा, तो कोई शासित। इस स्थिति को खत्म करने के लिए ही तो आज़ादी की इतनी लंबी जंग हुई, किंतु क्या आज़ाद भारत से शासक और शासित का भाव गया?

कहने को भारत आज एक लोकतंत्र है। राजा-प्रजा, राजतंत्र के विषय हैं। स्पष्ट है कि लोकतंत्र में राज, राजनेता और सत्ता जैसे शब्दों की कोई जगह नहीं होनी चाहिए। क्या हमने इन शब्दों को निकाल फेंका? नहीं, जनता अपने जनप्रतिनिधियों को आज भी राजनेता ही कहती है।

ऐसे में वर्चस्व के उनके खेल को राजनीति कहना ही पड़ेगा। जैसा संबोधन, वैसा व्यवहार। ये लोकतंत्र के प्रतिकूल शब्द और प्रतिकूल व्यवहार है। लोकतंत्र का मतलब होता है, राज की जगह लोक, राजनीति की जगह लोकनीति, राजनेता की जगह लोकप्रतिनिधि और सत्ता की जगह व्यवस्था को सुचारु बनाये रखने के लिए लोकप्रतिनिधि सभायें। जरूरी है कि जनता स्वयं अपने संबोधन और शब्दावली से लेकर विचार और व्यवहार को लोकतंत्र की परिभाषा के अनुकूल करे। राज, राजनेता, राजनीति और सत्ता, इन चार शब्दों की पुकार और व्यवहार बंद कर दें।

क्या बिना दल की कोई लोकतांत्रिक व्यवस्था बनाने से इसमें मदद मिल सकती है ?

विचार करें। जब राजनीति ही नहीं होगी, तो धर्म प्रमुखों द्वारा इसका इस्तेमाल भी नहीं होगा। यदि लोकनीति और लोकप्रतिनिधि सभाओं को धर्म के इस्तेमाल की कभी जरूरत हुई भी, तो तय मानिए कि वह सांप्रदायिक व सत्तात्मक होने के बजाय, सकारात्मक ही होगी। जिस दिन दुनिया इस मंतव्य के अनुकूल परिस्थिति निर्मित कर सकी, निश्चित मानिए कि धर्म और राजनीति का घालमेल पूरी तरह खत्म न भी हुआ, तो एक-दूसरे के साथ मिलकर वर्चस्व का खेल खेलने का मंतव्य मंद अवश्य पड़ जायेगा। ❑

सर्वोदय जगत

दुनिया भर में फैली महामारी कोविड-19 के कारण राज्य सरकार द्वारा लागू लॉकडाउन के चलते इस संयुक्तांक का छपना संभव नहीं हुआ। अतः इस संयुक्तांक का वेब संस्करण हमारी वेबसाइट www.sssprakashan.com तथा www.sarvasevasangh.in पर उपलब्ध रहेगा। स्थिति सामान्य होने पर मुद्रण शुरू होगा एवं पूर्व की भांति अंक ग्राहकों को भेजे जायेंगे। आपका सहयोग बना रहेगा, ऐसी अपेक्षा है। **–सं.**

चुनाव आयोग शायद भूल गया, कभी शेषनादेश ही होता था शासनादेश

❑ विजय शंकर सिंह

नंदीग्राम में ममता बैनर्जी पर हमला हुआ या वह दुर्घटना में घायल हुई या यह कोई राजनीतिक ड्रामा था, इस पर सबकी अलग अलग राय हो सकती है, पर चुनाव की घोषणा के बाद जब तक चुनाव परिणाम घोषित न हो जायें, तब तक राज्य की सारी प्रशासनिक मशीनरी चुनाव आयोग के अधीन रहती है और आयोग सरकार के रूप में अपने दायित्वों और कर्तव्यों का पालन कराता है। चुनाव आयोग संविधान के अंतर्गत एक स्वायत्त संस्था है, जो देश में राज्य और केंद्र की विधायिकाओं के लिए पक्षपात रहित और शांतिपूर्ण चुनाव सम्पन्न कराने के लिए प्राविधित है। पहले चुनाव की शुरुआत चुनावी अधिसूचना के लागू होने से मानी जाती थी और अधिसूचना के बाद ही आदर्श चुनाव संहिता लागू हो जाती थी, पर बाद में आयोग ने आदर्श चुनाव संहिता को मतदान की तारीखों की घोषणा के समय से ही लागू करने का नियम बना दिया। आयोग चुनाव की घोषणा के बाद, इतना अधिक स्वायत्त और शक्तिशाली हो जाता है कि जब तक चुनावी प्रक्रिया चलती रहती है, तब तक सरकार को तो छोड़ दीजिए, सुप्रीम कोर्ट भी कोई दखल नहीं दे सकती है।

आदर्श चुनाव आचार संहिता के बारे में कुछ सवालात स्वतः उठ जाते हैं। जैसे, 'आदर्श आचार संहिता' मॉडल कोड ऑफ कंडक्ट है क्या ? इसे कौन लागू करता है? इसके प्राविधान क्या क्या हैं? इसे लागू करने का उद्देश्य क्या है? इनके अतिरिक्त इस सन्दर्भ से जुड़ी कई और जिज्ञासाएँ भी जन्म लेती हैं, जिनके बारे में हर जागरूक मतदाता को तथ्य और सम्बंधित कानूनों की जानकारी होनी चाहिए।

किसी समय चुनावों के दौरान दीवारें पोस्टरों से पट जाया करती थीं। लाउडस्पीकर्स का कानफोडू शोर थमने का नाम ही नहीं लेता था। दबंग उम्मीदवार धन-बल के ज़ोर पर चुनाव जीतने के लिए कुछ भी करने को तैयार रहते थे। चुनाव जीतने के लिए धन और बाहुबल की कोई सीमा ही नहीं थी। बूथ कैप्चरिंग और बैलट बॉक्स लूट लेने जैसी घटनाएँ होती रहती थीं। चुनावी हिंसा के दौरान लोग मरते और घायल भी होते रहते थे। चुनावों में शराब और रुपए बाँटने का खुला खेल चलता था, जो अब भी जारी है। ऐसे हालात में आदर्श आचार संहिता इन सब व्याधियों के लिए अचूक इलाज तो नहीं सिध्द हुयी, लेकिन अपेक्षाकृत स्वच्छ चुनाव की ओर बढ़ता हुआ एक कदम तो है ही।

यह संहिता, वास्तव में वे दिशा-निर्देश हैं, जिन्हें सभी राजनीतिक पार्टियों को मानना पड़ता है। इनका उद्देश्य, चुनाव प्रचार अभियान को निष्पक्ष एवं साफ सुथरा बनाना और सत्ताधारी राजनीतिक दलों को चुनाव में उनके गलत हस्तक्षेप को बाधित करना है। साथ ही सरकारी मशीनरी का दुरुपयोग रोकना भी आदर्श आचार संहिता के मूल उद्देश्यों में से एक है। आदर्श आचार संहिता, राजनीतिक दलों और चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों के लिए आचरण एवं व्यवहार का एक मापदंड भी है। रोचक तथ्य यह भी है कि आदर्श आचार संहिता किसी विधायिका द्वारा पारित, किसी कानून के अंतर्गत नहीं बनी है बल्कि, यह सभी राजनीतिक दलों की सहमति से आयोग ने ड्राफ्ट की है और वही राजनीतिक दलों की सहमति से इसे संशोधित और परिवर्धित भी करता रहता है।

सबसे पहले आचार संहिता, 1960 के केरल विधानसभा चुनाव के दौरान अस्तित्व में आयी और आयोग ने यह दिशा निर्देश दिए कि राजनीतिक दल क्या करें और क्या न करें। इसके बाद 1962 के आम लोकसभा चुनाव में पहली बार चुनाव आयोग ने इस संहिता को सर्वमान्य बनाने के लिए, सभी मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों में वितरित किया और उनसे उनकी राय मांगी। इसके बाद 1967 के लोकसभा और विधानसभा के चुनावों में पहली बार राज्य सरकारों से आग्रह किया गया कि वे राजनीतिक दलों से इसका अनुपालन करने को कहें और कमोबेश ऐसा हुआ भी। इसके बाद से लगभग सभी चुनावों में आदर्श आचार संहिता का पालन कमोबेश होता रहा है। समय के अनुसार आचार संहिता में नए नए विंदु भी जुड़ते रहे हैं।

1967 तक मध्यावधि चुनाव बहुत कम होते थे। पर 1967 के बाद मिलीजुली सरकारों का दौर जब शुरू हुआ तो, समय से पहले विधानसभाओं का विघटन भी होने लगा। ऐसा होने पर आदर्श आचार संहिता को भी इस दृष्टिकोण से संशोधित किया गया, जैसे लोकसभा या विधानसभा के भंग हो जाने के बाद कामचलाऊ राज्य सरकार और केंद्र सरकार राज्य किसी नई योजना या परियोजना

का ऐलान नहीं कर सकती है। चुनाव आयोग को यह अधिकार सर्वोच्च न्यायालय के एस.आर. बोम्मई मामले में दिये गए ऐतिहासिक फैसले से मिला है। साल 1994 में आए इस फैसले में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि कामचलाऊ सरकार को केवल रोज़ाना का काम करना चाहिए और कोई भी बड़ा नीतिगत निर्णय लेने से बचना चाहिए।

चुनावों में अपनी बात जनता तक पहुँचाने के लिए सभाओं, जुलूसों, भाषणों, नारेबाजी और पोस्टरों आदि का इस्तेमाल किया जाता है। इसी को दृष्टिगत रखते हुए, आदर्श आचार संहिता के अन्तर्गत क्या करें और क्या न करें की एक लंबी-चौड़ी फेहरिस्त है, जिसमें कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे हैं, जो आदर्श आचार संहिता को महत्वपूर्ण बना देते हैं। जैसे—

* सबसे पहले तो आदर्श आचार संहिता लागू होते ही राज्य सरकारों और प्रशासन पर कई तरह के अंकुश लग जाते हैं।
* सरकारी कर्मचारी चुनाव प्रक्रिया पूरी होने तक निर्वाचन आयोग के तहत आ जाते हैं।
* आदर्श आचार संहिता में सत्तारूढ़ दल के लिए कुछ विशेष दिशानिर्देश दिए गए हैं। इनमें सरकारी मशीनरी और सुविधाओं का उपयोग चुनाव के लिए न करने और मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियों द्वारा अनुदानों, नई योजनाओं आदि की घोषणा न करने की मनाही है।
* मंत्रियों तथा सरकारी पदों पर तैनात लोगों को सरकारी दौरे में चुनाव प्रचार करने की इजाजत भी नहीं होती।
* सरकारी पैसे का इस्तेमाल कर विज्ञापन जारी नहीं किये जा सकते हैं।
* चुनाव प्रचार के दौरान किसी के निजी जीवन का उल्लेख करने और सांप्रदायिक भावनाएँ भड़काने वाली कोई अपील करने पर भी पाबंदी लगाई गई है।
* यदि कोई सरकारी अधिकारी या पुलिस अधिकारी किसी राजनीतिक दल का पक्ष लेता है तो चुनाव आयोग को उसके खिलाफ कार्रवाई करने का अधिकार है।
* चुनाव सभाओं में अनुशासन और शिष्टाचार कायम रखने तथा जुलूस निकालने के लिए भी दिशा निर्देश जारी किये गए हैं।
* किसी उम्मीदवार या पार्टी को जुलूस निकालने या रैली और बैठक करने के लिए चुनाव आयोग से अनुमति लेनी पड़ती है और इसकी जानकारी निकटतम थाने में देनी होती है।
* हैलीपैड, सभास्थल, सरकारी बंगले, सरकारी गेस्ट हाउस, सर्किट हाउस जैसी सार्वजनिक जगहों पर कुछ उम्मीदवारों का कब्ज़ा नहीं होना चाहिए। इन्हें सभी उम्मीदवारों को समान रूप से मुहैया कराना चाहिये।
* इस उल्लंघन से जुड़े आपराधिक मामले रिप्रेजेंटेशन ऑफ पीपुल्स एक्ट 1951 और आईपीसी की विभिन्न धाराओं, जो निर्वाचन सम्बंधित अपराधों के लिए बनी हैं, में दर्ज किये जाते हैं। इन सारे दिशा निर्देशों का उद्देश्य सत्ता का चुनाव के दौरान गलत इस्तेमाल पर रोक लगाकर सभी उम्मीदवारों को बराबरी का मौका देना है।

इस पर सुप्रीम कोर्ट ने भी अपनी मुहर लगा दी है। सर्वोच्च न्यायालय ने 2001 में दिये गए अपने एक फैसले में कहा है कि चुनाव आयोग का नोटिफिकेशन जारी होने की तारीख से आदर्श आचार संहिता को लागू माना जाएगा। जहाँ चुनाव होने हैं, वहाँ आदर्श आचार संहिता लागू हो जाती है। यह सभी उम्मीदवारों, राजनीतिक दलों तथा संबंधित राज्य सरकारों पर तो लागू होती ही है, साथ ही संबंधित राज्य के लिए केंद्र सरकार पर भी लागू होती है।

आदर्श आचार संहिता को और यूज़र-फ्रेंडली बनाने के लिए कुछ समय पहले चुनाव आयोग ने सी विजिल ऐप लॉन्च किया है। उसके ज़रिये चुनाव वाले राज्यों में कोई भी व्यक्ति आदर्श आचार संहिता के उल्लंघन की रिपोर्ट कर सकता है। इसके लिए उल्लंघन के दृश्य वाली केवल एक फोटो या अधिकतम दो मिनट की अवधि का वीडियो रिकॉर्ड करके अपलोड करना होता है। उल्लंघन कहाँ हुआ है, इसकी जानकारी ऐप के ज़रिये स्वतः संबंधित अधिकारियों को मिल जाती है। शिकायतकर्ता की पहचान गोपनीय रखते हुए रिपोर्ट के लिए यूनीक आईडी दी जाती है। यदि शिकायत सही पाई जाती है तो एक निश्चित समय के भीतर कार्रवाई की जाती है। इस ऐप के दुरुपयोग को रोकने की भी व्यवस्था की गयी हैं। सी विजिल के अलावा चुनाव आयोग ने और कई एडवांस तकनीकों को भी अपनाया है। इनमें नेशनल कंप्लेंट सर्विस, इंटीग्रेटेड कॉन्टैक्ट सेंटर, सुविधा, सुगम, इलेक्शन मॉनिटरिंग डैशबोर्ड और वन वे इलेक्ट्रॉनिकली ट्रांसमिटेड पोस्टल बैलट आदि शामिल हैं।

1999 में विधि आयोग ने अपनी एक रिपोर्ट में देशभर में एक साथ चुनाव करने की सिफारिश की थी। अभी कुछ समय पहले भी विधि आयोग देश भर में एक साथ चुनाव कराए जाने को लेकर ड्राफ्ट पेश कर चुका है। लेकिन यह भी सच है कि चुनावों के दौरान लागू होने वाली आदर्श आचार संहिता का उल्लंघन करने की कोशिश सरकार किसी-न-किसी तरीके से ज़रूर करती है। यदि चुनाव आयोग कड़ी निगाह न रखे तो वह इस कोशिश में कामयाब भी हो जाती है। ऐसे में आदर्श आचार संहिता का उल्लंघन होने पर चुनाव आयोग के पास कार्रवाई करने के अधिकार भी होते हैं। इसके लिए चुनाव आयोग थाने में मुकदमा दर्ज करा सकता है या उम्मीदवारी पर रोक तक लगा सकता है।

ममता बनर्जी पर हमले के संदर्भ में आयोग ने कहा है कि उसने स्थानीय डीएम, एसपी से रिपोर्ट मांगी है और पर्यवेक्षक भी घटनास्थल का दौरा कर के वस्तुस्थिति से अवगत कराएंगे। घटना क्या है, इस पर जब तक पूरी जांच न हो जाय, कुछ कहना उचित नही होगा, लेकिन चुनाव आयोग के प्रति अविश्वास की बात जरूर बंगाल के संदर्भ में कही जा रही है। चुनाव की घोषणा होते ही चुनाव आचार संहिता लागू हो जाती है और समस्त डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट और पुलिस

अधीक्षक तथा जहां पुलिस कमिश्नर हैं, वहां वह सब आयोग के सीधे पर्यवेक्षण में आ जाते हैं। सरकार का कोई भी प्रशासनिक नियंत्रण नहीं रहता है। स्थानांतरण, नियुक्ति, और दंड आदि सभी मुख्य चुनाव अधिकारी के माध्यम से आयोग करता है। हर चुनाव क्षेत्र में आयोग का एक प्रशासनिक पर्यवेक्षक होता है जो संयुक्त सचिव के रैंक का आईएएस अफसर होता है। खर्च के पर्यवेक्षण के लिए अलग से एक और भारतीय राजस्व सेवा का अधिकारी (आईआरएस) होता है।

नंदीग्राम की घटना यह बताती है कि बंगाल के चुनाव में हिंसा हो सकती है। केंद्रीय निर्वाचन आयोग कितनी गम्भीरता से शांति व्यवस्था बनाये रखने में सफल होगा, यह तो बाद में ही पता चलेगा। पर आयोग ने जिस प्रकार से सत्तारूढ़ दल भाजपा के हित में अपना रुझान, पिछले चुनाव में दिखाया है और जैसे आरोप लगे हैं, उससे आयोग की पक्षपात रहित छवि पर सवाल उठते रहे हैं। 'आजतक' के अनुसार, ममता बैनर्जी के पैर की चोट गंभीर बताई जा रही है। उनके सभी कार्यक्रम फिलहाल रद्द कर दिए गए हैं। उन्हें एसएसकेएम हॉस्पिटल में भर्ती कराया गया है। ममता ने आरोप लगाते हुए कहा, 'नंदीग्राम में मुझ पर हमला किया गया है. मेरे पैर में चोट लगी है. मेरे पैरों में सूजन है. मेरे पैर को गाड़ी से कुचलने की कोशिश की गई.' ममता के चोटिल होने से उनके चुनावी अभियान पर असर पड़ा है और उनके कई कार्यक्रमों को स्थगित कर दिया गया है. कहा जा रहा है कि कार का दरवाजा खोलते हुए कुछ लोगों ने ममता के साथ बदसलूकी की। इस घटना के विरोध में टीएमसी के एक संसदीय प्रतिनिधिमंडल ने दिल्ली में चुनाव आयोग के अधिकारियों से मुलाकात की और आरोप लगाया कि नंदीग्राम में सीएम ममता बनर्जी पर साजिश के तहत हमला हुआ था. यह कोई दुर्घटना नहीं थी, वरन साजिश के तहत हमला हुआ है।

बंगाल एक भावुक प्रान्त है और वहां जिस तरह से ममता बैनर्जी की लोकप्रियता और उनकी अदम्य संघर्षशीलता के प्रति लोगों के मन मे आदर का भाव है, उसे देखते हुए इस हमले की व्यापक प्रतिक्रिया हो सकती है। हाल ही में आयोग ने पश्चिम बंगाल के डीजी पुलिस को बदला है। यह एक सामान्य प्रक्रिया है। पहले भी आयोग ने मुख्य सचिव और पुलिस महानिदेशक के तबादले किये हैं। हो सकता है और भी तबादले हों। पर इन सब तबादलों का एक ही उद्देश्य रहता है कि चुनाव बिना किसी पक्षपात और राजनीतिक दबाव के शांतिपूर्ण तरीके से निपट जायं।

चुनाव आयोग को चुनाव के समय सरकार से भी अधिक शक्तिशाली बना देने वाले मुख्य निर्वाचन आयुक्त टीएन शेषन कहते थे कि उनकी भूमिका एक रेफरी की तरह है। एक रेफरी जैसे ही खेल का नियम टूटता है, वैसे ही सीटी बजा देता है और नियमों के उल्लंघन की गम्भीरता के अनुसार लाल कार्ड दिखा देता है। वह खिलाड़ी को भी मैदान से बाहर कर देता है। शेषन एक सख्त और नियमपालक रेफरी की तरह ही जब तक आयोग के प्रमुख रहे, बने रहे। उनकी सख्ती राजनीतिक दलों को अखर तो जाती थी, पर राजनीतिक दलों के पास आयोग के दिशानिर्देश मानने के अतिरिक्त और कोई विकल्प भी नहीं था। टीएन शेषन पर उनके समय में ही, एक प्रसिद्ध अंग्रेजी पत्रिका ने एक लंबा लेख छापा और उसके कवर पेज पर टीएन शेषन की तस्वीर के साथ एक कैप्शन लिखा था खलनायक। शेषन ने एक बयान में कहा था कि वे नाश्ते में राजनेता खाते हैं। यह सब मज़ाक़ की बातें हो सकती हैं, पर चुनाव व्यवस्था को व्यवस्थित और साफ सुथरा बनाने की शुरुआत उनके ही समय से शुरू हुई और यह भी एक अच्छी बात थी कि उनके उत्तराधिकारी जेएम लिंगदोह हुए, जो शेषन के ही कदमों पर आगे चले।

सबसे उल्लेखनीय बात यह रही है कि इस सुधार, सख्ती और निष्पक्षता के लिए न तो संसद ने कोई कानून बनाये और न ही सरकार ने कोई अध्यादेश जारी किया। यह सब संविधान के अनुच्छेद 324 के अंतर्गत प्रदत अधिकारों के अनुसार किया गया है। चुनाव से सरकार बनती बिगड़ती है और सत्ता में आने की ललक, लोभ और इच्छा अनेक अनैतिक मार्गों की ओर स्वतः ले जाने लगती है। वैसे भी साम दाम दंड भेद, राजनीति के चिर परिचित नियम माने गए हैं। ऐसी परिस्थिति में आयोग का काम बेहद चुनौतीपूर्ण और हर दशा में अपनी साख को बचा कर आगे बढ़ने का होता है। आयोग के पास कोई स्थायी प्रशासनिक मशीनरी नहीं होती है, बल्कि उसके पास उसी राज्य का प्रशासनिक तंत्र होता है, जिससे उसे चुनाव प्रबंधन करना होता है। ऐसी स्थिति में आयोग को सभी राजनीतिक दलों को यह विश्वास दिलाना पड़ता है कि वह नियम और कायदे के विपरीत कुछ भी नहीं होने देगा। शेषन ने उसी भरोसे को जनता और प्रशासनिक हलके में स्थापित किया। आयोग के आदेश, मज़ाक़ में शेषनादेश कहे जाने लगे।

कानून और व्यवस्था किसी भी चुनाव को शांतिपूर्ण और पक्षपात रहित रूप से सम्पन्न कराने के लिए सबसे महत्वपूर्ण अंग है। इसीलिए व्यापक तौर पर केंद्रीय बल नियुक्त होते हैं, पर्यवेक्षक भेजे जाते हैं, और एक एक घटना की खबर रखी जाती है। हर अफसर आयोग के अधीन आ जाता है। ऐसे में बंगाल में जो होगा, उसकी जिम्मेदारी से आयोग बच नहीं सकता है। बंगाल ही नहीं, देश मे अन्य राज्यों, असम, तमिलनाडु, पुडुचेरी और केरल में भी चुनाव हो रहे हैं। चूंकि सत्तारूढ़ दल भाजपा की निगाह बंगाल पर लगी हुई है और जिस तरह से 8 चरणों में चुनाव बंगाल में कराया जाना है, उसी से यह स्पष्ट है कि बंगाल का चुनाव निरापद कराया जाना आसान नहीं है। आयोग के पास निश्चय ही कोई न कोई सूचना होगी, इसीलिए आयोग ने 8 चरणों में, ताकि प्रबन्धन त्रुटिरहित हो सके, चुनाव कराने का निर्णय लिया है। हालांकि इस निर्णय की भी आलोचना हुई। आलोचनाएं तो होती रहती हैं, पर आयोग के ऊपर चुनाव के दौरान साफ सुथरा और निष्पक्ष दिखने का नैतिक और वैधानिक दायित्व दोनों है। अब यह भविष्य ही बता पायेगा कि आयोग शांतिपूर्ण और निष्पक्ष चुनाव कराने के अपने उद्देश्य और दायित्व में कितना सफल रहा है। ❑

क्या देश को वाकई एक नये संसद भवन की जरूरत है?

❑ अनुज श्रीवास्तव/दीपिका सक्सेना

सभ्यताएं और समय साक्षी हैं कि न जाने कितने ही शासकों ने बड़े-बड़े स्मारक और शहर सिर्फ इस चाह में बनवाये कि उन्हें सदियों तक याद रखा जाये। अपने निर्माण द्वारा भावी पीढ़ियों की स्मृति में रहना और एक अमिट छाप छोड़ने का प्रयास करना एक मानवीय प्रवृत्ति है। शायद अंग्रेजों के लिए भी अपनी नई राजधानी नई दिल्ली के निर्माण का यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था, लेकिन वे नहीं जानते थे कि ब्रिटिश शासन कुछ ही सालों में समाप्त हो जायेगा। अंग्रेज वास्तुकार और ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि इस बात के प्रति काफी सचेत थे कि यह निर्माण भारत में होना है, इसलिए उन्होंने नई दिल्ली की संरचना और निर्माण में पारंपरिक भारतीय वास्तुकला का समावेश और सम्मिलन सशक्त रूप से किया। शायद यही उन मुख्य कारणों में से एक है कि उनके द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन भारत में बनायी गयी इमारतों और राजधानी को आजादी मिलने के बाद भी अपनाया गया। इस याद रखे जाने लायक विशाल प्रयास से बनी मुख्य इमारतों में से एक पूर्ववर्ती परिषद सदन भी है, जो अब संसद भवन के नाम से जाना जाता है।

संसद भवन की संरचना मध्य प्रदेश के मुरैना में स्थित चौसठ योगिनी मंदिर से प्रेरित है, पर इस इमारत के निर्माण में कई परिवर्तन और संशोधन देखने को मिलते हैं। शुरू में ब्रिटिश वास्तुकार हर्बर्ट बेकर ने एक त्रिकोणीय भूखंड पर तीन खंडों वाला एक प्लान प्रस्तावित किया था, पर मुख्य वास्तुकार एडविन लुटियंस ने बेकर के इस डिजाइन का विरोध किया और इसके बजाय एक वृत्ताकार, कॉलोजियम जैसी योजना प्रस्तावित की। लुटियंस की जीत हुई और बेकर को अपने मूल डिजाइन को फिर से बनाना पड़ा। नये संसद भवन का वर्तमान प्रस्ताव इसी पुराने अस्वीकृत प्रस्ताव का पुनरावर्तन प्रतीत होता है।

संसद भवन की योजना एक वृत्त पर आधारित है, जिसका बाहरी व्यास 174 मीटर है। वृत्ताकार योजना के भीतर स्थित तीन मुख्य कक्ष/खंड मूल रूप से विधान सभा, चैंबर ऑफ प्रिंसेस और राज्य परिषद के रूप में तैयार किये गये थे। एक-दूसरे से 120 डिग्री पर स्थित, तीनों आपस में आंगन से जुड़े हैं और इनके मध्य में सेंट्रल हॉल है। संसद भवन की इमारत अपने समय के हिसाब से तकनीकी रूप से काफी विकसित थी और इसमें भारतीय वास्तुकला के कई तत्त्व शामिल थे। चैंबर्स को तरकीब से डिजाइन किया गया था और यहां तक कि इसमें अकॉस्टिक टाइल्स भी लगायी गयीं थीं, ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि चैंबर में हर व्यक्ति स्पीकर को स्पष्ट सुन सके।

1928 में इसके पूरे होने के बाद अगले साल 1929 में लुटियंस द्वारा एक और मंजिल बनवायी गयी थी। तब से आज तक भवन में अन्य कोई बड़ा बदलाव नहीं हुआ है। हालांकि समय के साथ बदलती जरूरतों के हिसाब से इमारत को अपडेट किया गया, मरम्मत की गयी है, साथ ही संसद भवन की लाइब्रेरी और संसद भवन एनेक्सी भी बनाये गये। 1947 में आजादी के बाद परिषद सदन का नाम बदलकर संसद भवन रखा गया। तीनों मुख्य कक्ष यानी विधानसभा, प्रिंसेस चैंबर और राज्य परिषद, क्रमशः लोकसभा, राज्यसभा और संसद पुस्तकालय के रूप में उपयोग किये जाने लगे। सेंट्रल हॉल को संयुक्त बैठकों के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

संसद भवन एक जीवित विरासत स्थल है। यह कई ऐतिहासिक पलों का साक्षी रहा है, जिसमें 15 अगस्त 1947 की रात को पं. जवाहरलाल नेहरू का 'ट्रिस्ट विद डेस्टिनी' और संविधान को औपचारिक रूप से अपनाये जाने से एक दिन पहले डॉ. बी. आर. आंबेडकर का 'ग्रामर ऑफ एनार्की' भाषण भी शामिल है। सेंट्रल हॉल ने भारतीय संविधान के बनने के दौरान हुई अनगिनत गहन बहसें और चर्चाएं देखी हैं। संसद भवन के सुशोभित सभाकक्षों में से न जाने कितनी प्रतिष्ठित हस्तियां और सांसद रोज गुजरते रहे हैं।

अब इस समृद्ध विरासत को किनारे करके एक नये संसद भवन के निर्माण की योजना समझ से बाहर है। नये संसद भवन की जरूरत का एक मुख्य कारण सीटों की परिसीमन को बताया जा रहा है। हालांकि परिसीमन का मुद्दा स्वयं अत्यंत जटिल और विवादास्पद है। इसके अनुसार जिन राज्यों की जनसंख्या ज्यादा बढ़ी है, वहां उसके अनुपात में लोकसभा और राज्यसभा की सीटें भी ज्यादा होंगी। यही कारण है कि 2001 में इसे 25 वर्षों के लिए टाल दिया गया था। रिपोर्ट्स के अनुसार, 2061 तक देश की जनसंख्या के स्थिर होने और उसके बाद गिरावट का अनुमान लगाया गया है। इसका मतलब यह होगा कि सांसदों की संख्या अगर बढ़ती भी है, तो ऐसा केवल 40 वर्षों के लिए होगा। निश्चित रूप से इस छोटी अवधि के लिए एक नया संसद भवन पूरी तरह अनावश्यक है। यहां इस बात पर गौर करना भी जरूरी है कि सदस्यों की बढ़ी हुई संख्या के साथ उनके पास सदन में अपने विचार रखने के लिए उपलब्ध समय और सीमित हो जायेगा। इसलिए इतनी बड़ी इमारत का निर्माण करने से पहले ऐसे और इससे जुड़े हुए सभी पहलुओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

एक नये संसद भवन के निर्माण के पक्ष में सरकार द्वारा 1920 के दशक में बने संसद भवन की आयु और इसकी संरचनात्मक और भूकंपीय अस्थिरता को महत्त्वपूर्ण कारण बताया जा रहा है। हालांकि किसी भी ठोस डाटा या रिपोर्ट के अभाव में इस बात को प्रमाणित करना कठिन है। गौर करने की बात यह भी है कि इस क्षेत्र में इसी के समान आयु वाली और इसी तरह की तकनीक से बनी हुई कई ऐतिहासिक इमारतें हैं, जिनमें राष्ट्रपति भवन भी शामिल है।

इस प्रस्ताव और संसद भवन के नये डिजाइन को विभिन्न सांविधानिक निकायों और एजेंसियों द्वारा फटाफट मंजूरी मिलती जा रही है, मालूम होता है जैसे किसी ने ठान ही लिया है कि कीमत जो भी हो, इस योजना को आकार देना ही है। दुर्भाग्यवश, देश की किसी जीती-जागती ऐतिहासिक विरासत को इस तरह छोड़ देना उन सभी भारतीयों के अपमान के समान है, जिनका प्रतिनिधित्व यह संसद भवन करता रहा है।

- द वायर

भारत में शोषक-वर्ग

❑ जेबी कृपालानी

जेबी कृपालानी का पूरा नाम जीवटराम भगवानदास कृपालानी था। वे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के अप्रतिम सेनानी, गांधीवादी समाजवादी तथा पर्यावरणविद् राजनेता थे। 1947 में जब देश को आजादी मिली, तब वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उन्हें सम्मान से आचार्य कृपालानी कहा जाता था। 19 मार्च 1982 को दिवंगत हुए आचार्य कृपालानी को याद करते हुए उनकी 39वीं पुण्यतिथि के अवसर पर हम उनका लिखा यह सारगर्भित आलेख प्रकाशित कर रहे हैं, जो वर्ग संघर्ष में निहित शोषण की वृत्ति की विवेचना करता है। **- सं.**

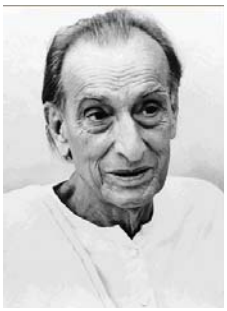

भारतीय जनसंख्या में शोषक-वर्ग में कौन आता है। क्या इसमें केवल वे लोग हैं, जो पूंजीपतियों के रूप में उत्पादन के साधनों के मालिक हैं या और भी कुछ ऐसे लोग हैं, जिन्हें शोषक-वर्ग में रखा जा सकता है? भारत ऐसा देश है, जहां लोगों के समूह लंबी बेकारी, गरीबी और उनसे उत्पन्न सारी बुराइयों से पीड़ित रहते हैं। सामान्य जनता की यह लंबी गरीबी कहां से आयी? यह इस तथ्य के कारण है कि खेतों और कारखानों में काम करने वाले मजदूरों, खासकर खेती के मजदूरों को न केवल अपनी अल्प आजीविका प्राप्त करनी पड़ती है, बल्कि जो कुछ भारतीय जनसंख्या के अन्य सारे वर्ग उपभोग करते हैं, वह सब भी इन्हें ही देना पड़ता है। वे वर्ग चाहे बड़े पूंजीपति हों, जो जमीन और कारखाने जैसे उत्पादन के साधनों के मालिक हैं, चाहे वे वस्तुओं का विनिमय करने वाले व्यापारी हों, चाहे पढ़े-लिखे पैसे वाले लोग, जैसे वकील, डॉक्टर, इंजीनियर आदि या वे लोग हों, जो राजनैतिक कार्यों में अथवा प्रशासकीय सेवाओं में लगे हुए हैं।

भारत के अन्य लोग खेत और कारखानों के मजदूरों के मुकाबले में सामाजिक रूप से उत्पादित सम्पत्ति का अधिक भाग ले लेते हैं। जहां पांच व्यक्तियों के हिस्से में औसतन तीन एकड़ जमीन आती है, वहां खेती इस अर्थ में आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं रहती कि खेती के सारे खर्चों को निकाल लेने के बाद जो कुछ बचता है, वह काम करने वालों को साल भर की अल्प मजदूरी के बराबर भी नहीं होता, जो ग्रामीण क्षेत्रों में आम तौर पर दी जाती है। गांवों में भूमिहीन मजदूरों की बड़ी आबादी होती है, जो खेती के पूरे कामकाज के वक्त भी अनिश्चित रोजगार पाते हैं। जब भूमिहीनों को काम मिलता भी है, तब भी उनकी मजदूरी शहर के कारखानों के संगठित सामान्य मजदूरों की मजदूरी के मुकाबले में एक-तिहाई या एक-चौथाई से अधिक नहीं होती। इसके अलावा जहां कारखानों के मजदूरों को पूरे वर्ष भर काम मिलता है, तो इनका रोजगार सिर्फ मौसमी रहता है और वह भी उस क्षेत्र में कितनी फसलें होती हैं, इस पर निर्भर होता है। जहां खेती पूरी तरह बरसात पर निर्भर करती है और फसल केवल एक ही होती है, वहां भूमिहीनों को तीन-चार महीने ही काम मिलता है।

आज गांव में कोई उल्लेखनीय कुटीर-उद्योग नहीं है। इसलिए भारत में सामाजिक ताने-बाने को कायम रखने के लिए सबसे अधिक भार गांवों के भूमिहीन मजदूरों पर तथा उन पर पड़ता है, जिनके पास आर्थिक दृष्टि से अपर्याप्त जमीन है। वे गहरी दरिद्रता और स्थाई कर्जदारी में जीते हैं। ऐसे समाज में, जहां सामान्य जनता मानव से निम्न स्थिति में जीवन यापन करती है, किसी एक पूर्णतया शोषक वर्ग को ढूंढ़ निकालना कठिन है। वह वर्ग केवल मुट्ठी भर पूंजीपतियों में नहीं मिलेगा, जो औद्योगिक उत्पादन के कुछ साधनों के स्वामी हैं। जमींदारी प्रथा की समाप्ति के बाद ज्यों ही कृषि की भूमि की सीमा निर्धारित हो जायेगी, त्यों ही भूमि की मिल्कियत के कारण होने वाला शोषण भी मिट जायेगा, ऐसा सोचा गया था। इसके संबंध में मैं आगे अधिक कहूंगा।

वर्तमान विवेचन के लिए मैं सोचता हूं कि उत्पादन के साधनों की मिल्कियत सिर्फ बड़ी मिलों, कारखानों, उनके समूहों और राज्य की है। लेकिन अगर वर्ग-संघर्ष का मूल शोषण में है, तो दो विरोधी वर्ग केवल पूंजीपतियों और मजदूरों के ही नहीं हैं, बल्कि एक तरफ उन वर्गों और गांवों में रहने वाले जन-समूह हैं, जिनके पास आर्थिक दृष्टि से अपर्याप्त जमीनें और भूमिहीन मजदूर हैं, और दूसरी ओर बाकी सारी जनता है। भारत में कारखानों का संगठित मजदूर भी भूमिहीन मजदूरों की तुलना में शोषक-वर्ग है। अगर गांवों के भूमिहीन मजदूर कारखानों के मजदूरों की तुलना में एक-तिहाई या एक-चौथाई मजदूरी नहीं पाते होते और उन दोनों वर्गों की मजदूरी में कुछ भी विवेकपूर्ण समता होती, तो शहर के मजदूरों को अपना भोजन इतना सस्ता नहीं मिलता, जितना आज है।

वर्तमान परिस्थितियों में गांव के मजदूरों का शहर के संगठित मजदूरों के हित में भी शोषण होता है। अगर हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हैं और भारत में वर्ग-संघर्ष एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण के आधार पर चलाना है, तो यह गांव की जनता, जिसमें भूमिहीनों और आर्थिक दृष्टि से अपर्याप्त भूमि वाले शामिल हैं, उनके तथा बाकी की जनता के बीच में होगा। हम एक श्रेणी के शोषकों को दूसरी श्रेणी के शोषकों से केवल शोषण के तारतम्य के आधार पर अलग नहीं कर सकते। अगर हम ऐसा कर भी लें, तब भी अब सब वर्गों द्वारा किये गये शोषण का योग बड़े पूंजीपतियों द्वारा किये गये शोषण की तुलना में बढ़ जायेगा। अगर हम शिक्षित वर्ग के लोगों में थोड़े से आत्म विश्लेषण और आत्म निरीक्षण की कमी न हो, तो यह बात खोज निकाले बिना न रह सकेंगे कि बड़े पूंजीपतियों के साथ हम भी गांव में रहने वाले गरीबों के शोषक हैं। कम से कम गांधीजी की यह राय थी और वह सही थी। ❑

जनादेश प्रभावित करने के लिए सत्ता की ओछी हरकतें

❑ परीक्षित सान्याल

14 और 25 फरवरी को प्रभात खबर, सन्मार्ग समेत दूसरे कई अख़बारों के कोलकाता और आस पास के संस्करणों में प्रधानमंत्री आवास योजना का एक विज्ञापन छपा. विज्ञापन में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की एक मुस्कुराती तस्वीर के साथ एक महिला की तस्वीर भी छपी थी. 'आत्मनिर्भर भारत, आत्मनिर्भर बंगाल' के नारे के साथ इस विज्ञापन में लिखा है, प्रधानमंत्री आवास योजना में मुझे मिला अपना घर. सर के ऊपर छत मिलने से करीब 24 लाख परिवार हुए आत्मनिर्भर. साथ आइये और एक साथ मिलकर आत्मनिर्भर भारत के सपने को सच करते हैं.

अख़बारों के पहले पेज के आधे भाग में छपे विज्ञापन में जिस महिला की तस्वीर छपी है, उनका नाम लक्ष्मी देवी है. हमने पाया कि लक्ष्मी देवी को इसकी जानकारी विज्ञापन छपने के बाद मिली.

48 वर्षीय लक्ष्मी ने अख़बार में जबसे अपनी तस्वीर देखी है, तब से परेशान हैं. उनको इस बात की जानकारी तक नहीं है कि उनकी यह तस्वीर कब और किसने ली थी. एक दिन वह पूरा अख़बारों के दफ्तरों का चक्कर काटती रहीं और पूछती रहीं कि मेरी तस्वीर क्यों छाप दी आपने. लक्ष्मी को लगता है कि यह फोटो अख़बार वालों ने छापी है, जबकि यह विज्ञापन भारत सरकार द्वारा जारी किया गया है.

500 रुपए के किराए के कमरे में रहती हैं लक्ष्मी

विज्ञापन में लक्ष्मी की फोटो के साथ लिखा है कि प्रधानमंत्री आवास योजना के तहत मुझे मिला अपना घर लेकिन सच्चाई यह है कि लक्ष्मी देवी के पास अपना घर तक नहीं है. अपने परिवार के पांच सदस्यों के साथ लक्ष्मी 500 रुपए किराए की एक खोलाबाड़ी में रहती हैं. खोलाबाड़ी को सामान्य शब्दों में झुग्गी कह सकते हैं.

मूलतः बिहार के छपरा जिले की रहने वाली लक्ष्मी देवी बचपन में ही अपने परिजनों के साथ कोलकाता चली आईं. बीते 40 सालों से कोलकाता के बहूबाजार थाने के मलागा लाइन इलाके में ही रहती हैं. उनकी शादी बिहार के रहने वाले चंद्रदेव प्रसाद से हुई थी, जिनका निधन साल 2009 में हो गया.

लक्ष्मी देवी कहती हैं, ''उनके पास न गांव में जमीन है, न ही बंगाल में अपनी जमीन है. पति की मौत के बाद सारी जिम्मेदारी मेरे ही ऊपर आ गई. तीन बेटे और तीन बेटियां हैं. सबकी शादी कर चुकी हूं. दो बेटे मेरे साथ रहते हैं. वे कूरियर का समान ढोते हैं और 200 से 300 रुपए रोजाना कमाते हैं.''

वे रोते हुए बताती हैं, ''मेरे पति बंगाल बस सेवा में काम करते थे. उनकी मौत के बाद मैं 10 साल तक दौड़ती रही, लेकिन मुझे काम नहीं मिला. उसके बाद इधर-उधर साफ-सफाई का काम करने लगी. अभी मैं एक पार्क में झाड़ू मारने का काम करती हूं, जहां मुझे 500 रुपए महीने के मिलते हैं. मेरे पति के निधन के बाद मुझे दो हज़ार रुपए की पेंशन भी मिलती है.''

क्या आपके पास अपना घर है? इस सवाल के जवाब में लक्ष्मी कहती हैं, ''मेरे पास कहां घर है. सारा जीवन फुटपाथ पर रहते हुए कट गया. 500 रुपया भाड़े की झोपड़ी में रहती हूं, जिसमें मेरे दो बेटे, एक बहू और उनके दो बच्चे रहते हैं. उसी घर में हम ऊपर नीचे करके सोते हैं. मजबूरी है.''

उनका घर बदहाल स्थिति में था. दीवार कई जगहों पर जर्जर स्थिति में थी. कमरे के एक कोने में कपड़े टंगे थे, दूसरे कोने में बर्तन रखे हुए थे. लक्ष्मी देवी की बहू अनीता देवी कहती हैं, ''हम लोग बहुत कष्ट से रहते हैं. 100 रुपये प्रति लीटर के हिसाब से केरोसिन तेल खरीदकर स्टोव पर खाना बनाते हैं.''

लक्ष्मी के सबसे छोटे बेटे राहुल प्रसाद भी घर पर ही मौजूद थे. चौथी तक पढ़ाई करने वाले 25 वर्षीय राहुल बताते हैं, ''सरकार से हमें गैस तो नहीं मिली और हम खुद से इसलिए नहीं खरीद पाए क्योंकि हम खोलाबाड़ी में रहते हैं. यहां गैस रखना मना है.''

लक्ष्मी देवी के परिवार के लोग शौच के लिए पास के बने निगम के शौचालय में जाते हैं. राहुल बताते हैं, ''अपना घर नहीं है तो शौचालय कैसे होगा. पास में ही कॉरपोरेशन का शौचालय बना हुआ है, वहां एक बार जाने के पांच रुपए लगते हैं. शौच के लिए मेरा पूरा परिवार उसी में जाता है.'

अखबार में छपी तस्वीर की कहानी

लक्ष्मी देवी को इस बात की जानकारी तक नहीं है कि उनकी तस्वीर कब खींची गई. जब से उनकी तस्वीर छपी है, तब से वे परेशान हैं. अख़बार में छपी तस्वीर को लेकर लक्ष्मी कहती हैं, ''मुझे याद नहीं कि यह तस्वीर कब और किसने खींची है. सोकर उठी तो आस पड़ोस के लोगों ने मुझे अख़बार में तस्वीर दिखाते हुए कहा कि ये तुम हो. जब से तस्वीर देखी है, तब से मैं परेशान हूं. मुझे कुछ मालूम ही नहीं है.''

लक्ष्मी आगे कहती हैं, ''बाबूघाट में गंगासागर मेला (यह मेला दिसंबर के आखिरी सप्ताह से 14 जनवरी तक चलता है) लगा था. वहां मैंने 10 दिन तक शौचालय में सफाईकर्मी का काम किया था. मुझे लगता है कि वहीं यह तस्वीर उतारी गई थी. लेकिन मुझे कुछ मालूम नहीं है. जहां पेपर छपाई होता है, मैं वहां भी गई थी. उनसे मैंने पूछा कि ये फोटो आपके पास कहां से आया, तो उन्होंने बताया कि ये तो सरकार का है. कौन फोटो लिया ये सरकार से पूछो.''

जब हमने लक्ष्मी से कहा कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी से आप कुछ कहना चाहती हैं? क्योंकि आपकी तस्वीर उनके साथ छपी है. हैरान होकर वे कहती हैं, ''इतने बड़े आदमी से मैं क्या बोल सकती हूं. मैं उनसे बात कैसे कर सकती हूं.''

लक्ष्मी कहती हैं, ''मैं चाहती हूं कि मोदीजी मुझे घर दें, ताकि बुढ़ापे में मैं घर में रह सकूं. बचपन से फुटपाथ पर रह रही हूं.''

कोलकाता के बीजेपी जिला अध्यक्ष शिवाजी सिंघा रॉय के सचिव ने कहा कि अभी यहां टिकट को लेकर उथल-पुथल जारी है. जब सब शांत होगा तो हम आपके सवालों का जवाब देंगे.

मलागा लाइन इलाके में ही रहने वाले भाजपा से जुड़े एक युवा नेता अपना नाम न लिखने की शर्त पर बताते हैं, ''मैं लक्ष्मी देवी से मिला. विज्ञापन में जो तस्वीर है, वह उनकी ही है. जब उनकी तस्वीर ली गई तब कहा गया कि बीजेपी की सरकार आई तो उन्हें घर दिया जाएगा. उनको मोदीजी पर भरोसा है.'

इससे पहले भी छप चुकी है इस तरह की तस्वीर

ऐसा नहीं है कि यह पहली बार हुआ है. बता दें कि इससे पहले भी इस तरह से सरकार अपने विज्ञापन में जिन्हें कोई लाभ नहीं मिला, उनकी तस्वीर छपवा चुकी है. हाल ही में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ के ऑफिस के ट्विटर हैंडल से दुर्गेश नाम के एक युवक का वीडियो साझा किया गया था. वीडियो के कैप्शन में लिखा गया, *''सरकारी नौकरी हेतु आयोजित परीक्षाओं के समयबद्ध परिणामों एंव पारदर्शी चयन प्रक्रिया के लिए मुख्यमंत्री श्री योगी आदित्यनाथ महाराज को धन्यवाद ज्ञापित करते श्री दुर्गेश चौधरी जी. श्री दुर्गेश चौधरी की नियुक्ति राजस्व लेखपाल के पद पर पूर्ण पारदर्शिता के साथ हुई.''*

विपक्षी दलों के नेताओं और उत्तर प्रदेश में भर्ती नहीं आने से नाराज युवाओं ने इसको लेकर सीएम योगी आदित्यनाथ को जम कर घेरा था. ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि योगी सरकार के कार्यकाल में अभी तक लेखपाल की कोई भर्ती ही नहीं हुई है. दुर्गेश को नौकरी अखिलेश यादव के शासन के दौरान साल 2015 में मिली थी.

इससे पहले किसान आंदोलन के शुरुआत में पंजाब बीजेपी ने एक विज्ञापन जारी किया था, जिसमें बताने की कोशिश की गई थी कि पंजाब के किसान, सरकार द्वारा एमएसपी पर की जा रही खरीदारी से खुश हैं. जिस तस्वीर के जरिये यह बताने की कोशिश हो रही थी, वह पंजाब के फिल्म अभिनेता और निर्देशक हरप्रीत सिंह की थी, जो खुद उन दिनों सिंघु बॉर्डर पहुंचकर किसानों को अपना समर्थन दे रहे थे. बाद में जब इसको लेकर विवाद बढ़ा तो बीजेपी ने वह विज्ञापन अपने अलग-अलग सोशल मीडिया हैंडल से हटा दिया.

- न्यूज लांड्री

लोग बुद्धिजीवियों से इतनी नफरत क्यों करने लगे हैं?

❑ विकास बहुगुणा

बुद्धिजीवी समाज की चेतना माने जाते हैं। कहा जाता है कि उनके बिना समाज अंधा हो जाता है। इतिहास में झांकें तो कई बड़े सामाजिक-राजनीतिक बदलावों के उत्प्रेरक और अगुआ बुद्धिजीवी ही रहे हैं। अपने एक लेख में सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायाधीन मार्कंडेय काटजू लिखते हैं, 'प्रत्येक महान क्रांति का नेतृत्व बुद्धिजीवियों द्वारा किया गया। बुद्धिजीवी एक सोशल इंजीनियर होने के अलावा जनमत को दिशा देने और नये विचारों को फैलाने वाला भी होता है, जो उन आदर्शों का प्रचार करता है, जिनके लिए लोगों को संघर्ष करना चाहिए।'

भारत के संदर्भ में इस बात को और सरल तरीके से समझा जा सकता है। महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू जैसे कई बुद्धिजीवियों ने देश की आजादी की लड़ाई को एक नई दिशा दी। स्वतंत्रता के बाद लोकतंत्र का स्वरूप क्या हो, यह तय करने में भी उनकी अहम भूमिका रही। सामाजिक सुधार के मोर्चे पर भी उन्होंने कई असाधारण काम किये। इसके चलते देश-समाज से उन्हें खूब समर्थन और सम्मान भी मिला। तो फिर ऐसा क्या हुआ कि आज बुद्धिजीवियों के खिलाफ नफरत की आंधी चलती दिख रही है?

इस सवाल के जवाब को समझने की शुरुआत मानव स्वभाव को समझने से की जा सकती है। मनोविज्ञानी कहते हैं कि ज्यादातर लोगों में खुद से ज्यादा तेज दिमाग वाले किसी शख्स के लिए एक सहज ईर्ष्या का भाव रहता ही है। यानी ऐसे लोगों के लिए एक स्वाभाविक नापसंदगी इसलिए भी होती है कि वे बाकी लोगों को हीन महसूस करवाते हैं। यह नापसंदगी अपना हीनताबोध कम करने में इन लोगों की मदद करती है।

लेकिन यह नापसंदगी सामाजिक रूप से इस कदर व्यापक और गहरी कैसे हो जाती है कि बुद्धिजीवियों की जान को ही आफत हो जाये, जैसा कि इन दिनों भारत में हो रहा है? इस सवाल के जवाब के लिए दोनों तरफ देखना होगा। बुद्धिजीवियों के खिलाफ नफरत की कुछ वजहें बाहरी हैं तो झोल उनकी खुद की तरफ से भी कम नहीं है। अगर पहली श्रेणी के कारकों को देखें तो पहली और सबसे साफ बात तो यही है कि आज बुद्धिजीवियों के खिलाफ एक तरह का संगठित अभियान चलाया जा रहा है।

कई लोगों के अनुसार इस मामले में स्थिति इसलिए भी इतनी गंभीर है, क्योंकि वर्तमान समय में तमाम तरह के विचारों को ही गैरजरूरी चीज माना जा रहा है। उदाहरण के तौर पर आज मानवता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, लोकतांत्रिक मूल्यों, भारतीय संस्कृति में मौजूद रहे समावेशी तत्त्वों आदि से जुड़े विचार न केवल एक बड़े तबके को फूटी आंख नहीं सुहाते हैं, बल्कि इनमें भरोसा रखने वाले और इनकी बात करने वाले लोग भी उन्हें अपने समाज और देश के दुश्मन या मूर्ख लगते हैं। 'आज माहौल ऐसा बना दिया गया है, जिसमें अज्ञानता आपका गहना है और पढ़ा-लिखा-समझदार होना आपकी मूर्खता।

इस प्रक्रिया में अक्सर उस सच को संदिग्ध बनाने की कोशिश की जाती है, जो बुद्धिजीवियों के विचारों को संदर्भ या आधार देते हैं। जैसा कि अपने एक लेख में वरिष्ठ साहित्यकार अशोक वाजपेयी कहते हैं, 'कभी कहा गया था कि बुद्धिजीवी का काम सत्ता से निडर होकर सच बोलना है और अब कहा जा रहा है कि सच क्या है, यह बेहद संदिग्ध मामला हो गया है।' इस वजह से ऐसे सच पर टिके विचार और उन्हें हमारे सामने रखने वाले बुद्धिजीवी भी संदिग्ध लगने लगते हैं।

इतिहास बताता है कि विचारों और सवालों को खतरा मानने वाली सत्ताएं हमेशा से समाज के लिए एक नई सच्चाई गढ़ने की कोशिश करती रही हैं और फिर इनके आधार पर बुद्धिजीवियों की एक ऐसी तस्वीर पेश की जाती है, मानों वे किसी एजेंडे के तहत ही किसी विचारधारा या वर्ग का समर्थन या विरोध करते हैं, सही या गलत के आधार पर नहीं।

अपने एक लेख में वरिष्ठ पत्रकार प्रियदर्शन कहते हैं, 'लेखक और संस्कृतिकर्मी हमेशा प्रतिपक्ष में ही रह सकते हैं।' उनके मुताबिक 'इमरजेंसी में फणीश्वरनाथ रेणु और शिवराम कारंत ने अपने पद्मसम्मान लौटाये। रेणु, नागार्जुन, रघुवंश, हंसराज रहबर, गिरधर राठी, मुरली मनोहर प्रसाद सिंह जैसे लेखकों, कुमार प्रशांत जैसे गांधीवादी और कुलदीप नैयर जैसे पत्रकारों सहित अलग-अलग भाषाओं से जुड़े ढेर सारे प्राध्यापकों और बुद्धिजीवियों ने जेल काटी। यह सिलसिला हमेशा बना रहा है।

बुद्धिजीवियों का आरोप है कि चूंकि निष्पक्ष मीडिया और प्रभावी विपक्ष के अभाव को वे लोग अपने विचारों और क्रियाकलापों से भरने की कोशिश कर रहे थे, इसलिए सत्ता पक्ष द्वारा येन-केन प्रकारेण उन्हें बदनाम करके अपना रास्ता निष्कंटक करने के प्रयास किये जाते रहे हैं।

यह तो हुई एक पक्ष की बात, लेकिन बहुतों का मानना है कि सवाल दूसरी तरफ भी है। यानी मौजूदा हालात का दोष काफी हद तक बुद्धिजीवियों पर भी आता है। यह सही है कि कई बुद्धिजीवी अपनी विद्वता की वजह से सामान्य लोगों को हीनता का अनुभव करा सकते हैं लेकिन बात सिर्फ यहीं खत्म नहीं हो जाती। अपने एक आलेख में शिव विश्वनाथन लिखते हैं कि लेफ्ट लिबरल्स ने भारतीय मध्यवर्ग को उनकी परंपराओं और विश्वासों को लेकर भी शर्मिंदा किया और नीचा दिखाया। उनके धार्मिक होने को लगभग सांप्रदायिक होना करार दे दिया। सरकार बनाने के बाद दक्षिणपंथी नेताओं ने उन्हें इस शर्म से बाहर निकालते हुए यकीन दिलाया कि उनकी परंपरा और विश्वास सर्वश्रेष्ठ है और यह कहकर उन्होंने उनका दिल जीत लिया।

दिल्ली विश्वविद्यालय में लंबे समय तक पढ़ा चुके और इन दिनों अशोका यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर दिलीप सिमियन का मानना है कि बुद्धिजीवियों के लिए पैदा हुई यह नफरत असल में एक लंबे अरसे में घटित हुई प्रक्रिया का परिणाम है। एक समय नक्सल आंदोलन से जुड़े रहे प्रोफेसर दिलीप सिमियन कहते हैं, 'असल में हर तरह के बुद्धिजीवियों ने पक्षपात किया। पक्षपात का मतलब यह नहीं कि सही-गलत का अंतर करना या सच्चाई और झूठ का भेद करना। वह तो हर बुद्धिजीवी को करना ही पड़ेगा। लेकिन अगर पहले से ही सामने वाला आदमी पहचान लेता है कि ये बुद्धिजीवी क्या बोलने वाला है। वह क्या उजाले में लायेगा और क्या अंधेरे में रखेगा तो यह बात सही नहीं है। यह बात मैं बड़े से बड़े बुद्धिजीवियों के बारे में कह सकता हूं और कइयों को तो यह अहसास भी नहीं होगा। आप मेरा सम्मान तभी करेंगे जब आप मेरे पास कोई प्रश्न लेकर आयेंगे और आपको जिज्ञासा होगी ये जानने की कि मैं क्या कहता हूं। अगर आपको पता ही है कि मैं किस दिशा में क्या कहूंगा तो आप मेरे पास क्यों आयेंगे। समस्या यही है।'

बुद्धिजीवी असल में जिसे विचारधारा कहते हैं, वह उनकी मोहमाया है। क्योंकि धारा तो चलने का नाम है जबकि बुद्धिजीवी जड़ हो जाते हैं। वे कहते हैं, 'सच्चाई किसी खेमे की संपत्ति नहीं हो सकती। अगर बन जाती है तो इसका मतलब ये है कि आप किसी वजह से सच्चाई का एक हिस्सा छिपा रहे हैं। मैं पिछले 15-20 साल से कश्मीरी पंडितों की बात भी करता रहा हूं। मेरे कई साथी कहते हैं कि आप तो प्रतिक्रियावादी ताकतों का साथ दे रहे हो। लेकिन ज्यादती हिन्दू के साथ हो या मुसलमान के साथ या फिर किसी भी समुदाय के व्यक्ति के साथ, वह तो ज्यादती ही होती है।'

जानकारों के मुताबिक ऐसा इसलिए हुआ कि भारत में अधिकांश बुद्धिजीवी उस खेमे के हैं, जिसे वामपंथ कहा जाता है और जो हिन्दुत्व की विचारधारा को सबसे बड़ा खतरा मानता रहा है। मिन्हाज मर्चेंट लिखते हैं, 'बुद्धिजीवियों का काम बहस का स्तर समृद्ध करना होता है, दूसरी विचारधाराओं से हिसाब बराबर करना नहीं।' उनके मुताबिक यही वजह है कि लोगों ने बुद्धिजीवियों को गंभीरता से लेना छोड़ दिया।

बुद्धिजीवियों की यह सीमित दृष्टि तब और स्पष्ट हो जाती है, जब हम इस ओर ध्यान देते हैं कि उन्होंने कभी इस बात को नहीं माना कि हिन्दू समुदाय कभी इतनी बड़ी संख्या में इस तरह से भी एक हो सकता है कि अकेले ही सत्ता स्थापित करने का कारण बन जाये। उन्हें हमेशा यह लगता रहा कि हमारे समाज में इतनी विभिन्नताएं हैं और हमारी संस्कृति इतनी गंगा-जमुनी रही है कि ऐसा होना लगभग असंभव है। लेकिन ऐसा हुआ तो उसने यह भी साबित कर दिया कि हमारा ज्यादातर बुद्धिजीवी वर्ग जमीनी सच्चाइयों से कितना कटा हुआ है।

लेकिन हमारे बुद्धिजीवी न केवल सच्चाई से दूर हो गये बल्कि कुछ लोगों के मुताबिक भारत में उनके प्रति बढ़ती नाराजगी की वजह उनके विचार और कर्म में बढ़ती दूरी भी है। इसी देश ने महात्मा गांधी को भी देखा है, जिनके विचार और कर्म में असाधारण एकरूपता थी। बीबीसी हिन्दी पर अपने एक लेख में गांधी दर्शन के अध्येता कुमार प्रशांत कहते हैं, 'महात्मा गांधी इतिहास के उन थोड़े से लोगों में एक हैं, जिन्होंने अपने मन, वचन और कर्म में ऐसी एकरूपता साध रखी थी कि किसी भ्रम या अस्पष्टता की गुंजाइश बची नहीं रहती बशर्ते कि आप ही कुछ मलिन मन से इतिहास के पन्ने न पलट रहे हों।' यही वजह है कि भारत का जनमानस उनके साथ खड़ा हो गया था।

लेकिन हालिया समय के बुद्धिजीवियों के एक बड़े हिस्से की तस्वीर इसके उलट दिखती है। जैसा कि एनडीटीवी से जुड़े एक वरिष्ठ पत्रकार कहते हैं, 2014 तक इन बुद्धिजीवियों का एक आभामंडल हुआ करता था, क्योंकि तब तक उस मीडिया का भी इस कदर ध्रुवीकरण नहीं हुआ था, जिसमें वे छपा-दिखा करते थे और इससे अपनी ताकत हालिस करते थे। अब तो कुछेक अपवादों को छोड़कर मीडिया सत्ता प्रतिष्ठान के साथ खड़ा दिखता है। इसलिए बुद्धिजीवियों का वह स्पेस काफी कम हो गया है।' न केवल स्पेस कम हुआ, बल्कि ज्यादातर मीडिया सत्ता या उसकी विचारधारा का विरोध करने वालों के विरोध में ही खड़ा दिखायी देता है।

भारत में बुद्धिजीवियों के उतार की एक वजह यह भी मानी जा रही है कि बीते कुछ समय के दौरान समाज में हर तरह के विचारों का महत्त्व घटा है। जैसा कि अशोक वाजपेयी कहते हैं, 'विचार अपने आप में गौण होता जा रहा है।' उनके मुताबिक विचार बहुत तेजी से राय में बदल रहा है और मीडिया के असाधारण प्रसार के चलते यह भी माना जाने लगा कि मीडिया में आये बगैर विचार की प्रासंगिकता अधूरी है और मीडिया में आने की एक ही शर्त है साफ-साफ इस या उस तरफ होना। ऐसे में 'मीडिया की तरह अब कुई बुद्धिजीवी भी उस चलन का शिकार हो गये हैं, जिसमें चीजें सिर्फ श्वेत-श्याम यानी ब्लैक एंड व्हाइट में देखी जाती है।' ❑

प्रसंगवश

निकोलाई चाचेस्कू

वह निरंकुश तानाशाह, जो अल्कोहल से हाथ धोता था

❑ रेहान फ़ज़ल

बहुत से लोग अब शायद यकीन न करें, लेकिन 60 के दशक में रोमानिया में निकोलाई चाचेस्कू ने लगातार 25 सालों तक न सिर्फ अपने देश की मीडिया की आवाज़ नहीं निकलने दी, बल्कि खाने, पानी, तेल और यहाँ तक कि दवाओं तक पर कर लगा दिया. नतीजा ये हुआ कि हज़ारों लोग बीमारी और भुखमरी के शिकार हो गए और उस पर तुर्रा ये कि उसकी खुफिया पुलिस ने लगातार इस बात की निगरानी रखी कि आम लोग अपनी निजी जिंदगी में क्या कर रहे हैं. चाचेस्कू को पूरे रोमानिया में 'कंडूकेडर' के रूप में जाना जाता था, जिसका अर्थ था 'नेता'. उसकी पत्नी एलीना को राष्ट्रमाता का खिताब दिया गया था.

अपनी परछाई से भी डरते थे रोमानिया के लोग

रोमानिया में भारत के राजदूत रह चुके राजीव डोगरा बताते हैं कि वे जब रोमानिया गए थे तो चाचेस्कू को गए दस साल बीत चुके थे, लेकिन तब भी लोगों में उसके प्रति दहशत थी.

डोगरा याद करते हैं, 'जब मैं अपना पद सँभालने रोमानिया पहुंचा तो मैंने पाया कि लोग अपनी छाया से भी घबराते थे. वे जब सड़क पर चलते थे तो हमेशा पीछे मुड़ मुड़ कर देखते थे कि कोई उनका पीछा तो नहीं कर रहा. जब वे पार्क में होते थे तो देखते थे कि वहाँ कोई आदमी तो उनकी निगरानी नहीं कर रहा. चाचेस्कू के ज़माने में अख़बार में एक छेद करके हर शहर, हर गांव, हर चौराहे और हर नाके पर खुफिया एजेंट बैठा होता था, सब पर नज़र रखने के लिए.'

घर की खिड़कियाँ खुली रखने का हुक्म

एक रोमानियाई महिला कार्मेन बुगान के पिता चाचेस्कू के विरोधियों में से थे. खुफिया पुलिस ने 10 मार्च, 1982 को उनके गाँव में घर पर छापा मारा और अगले पाँच सालों तक परिवार ने जो कुछ किया, उस पर नज़र रखी और घर के अंदर बोले गए उसके एक-एक शब्द तक को रिकॉर्ड किया.

कार्मेन बुगान ने बताया कि जब मैं स्कूल से वापस आई तो मैंने देखा कि मेरा पूरा घर पुलिस वालों से भरा हुआ था. वे मेरे पूरे घर में खुफिया माइक्रोफ़ोन लगा रहे थे. वे मेरे माता-पिता की सिगरेट पी रहे थे और बिना पूछे अपने लिए कॉफ़ी बना रहे थे. उस समय मुझे

पता नहीं था, लेकिन बाद में मुझे पता चला कि मेरे पिता ने अपनी कार से बुखारेस्ट में चाचेस्कू के खिलाफ़ पर्चे बाँटे थे. मेरे पिता उस समय अंडरग्राउंड थे और मेरी माँ अस्पताल में थीं. 'वे मेरे घर का सारा खाना ले गए और मुझे तीन हफ्तों तक सिर्फ पानी पर ही जिंदा रहना पड़ा.' हमें आदेश दिया गया था कि चाहे जितनी ठंड हो, हम अपने घर की खिड़कियाँ हमेशा खुली रखें, ताकि वे हम पर नज़र रख सकें. जब मैं स्कूल जाती थी तो एक खुफिया एजेंट मेरे पीछे चलता था. मुझे उसका ब्राउन कोट और कैप अभी तक याद है. वह स्कूल छूटने तक गेट पर ही मेरा इंतज़ार करता था.'

बड़े क़द की तस्वीर दिखाने की हिदायत

नाटे क़द के चाचेस्कू का क़द था मात्र 5 फ़ीट 4 इंच, इसलिए पूरे रोमानिया के फ़ोटोग्राफ़रों को हिदायत थी कि वे उनकी इस तरह तस्वीरें खीचें कि वह सबको बड़े क़द का दिखाई दे. 70 की उम्र पार हो जाने के बाद भी उसकी वही तस्वीरें छपती थीं, जो 40 साल की उम्र में खीची गई थीं. एलीना को तो ये तक पसंद नहीं था कि कोई सुंदर महिला उनकी बग़ल में खड़े हो कर तस्वीर खिंचवाए. एलीना ने कई विषयों में फ़ेल होने के बाद 14 साल की उम्र में पढ़ाई छोड़ दी थी, लेकिन रोमानिया की फ़र्स्ट लेडी बनने के बाद उसने ऐलान करवा दिया था कि उसके पास रसायन शास्त्र में 'पीएचडी' की डिग्री है. ज़ाहिर है ये डिग्री जाली थी.

अरबों डॉलर ख़र्च कर दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा भवन बनवाया

चाचेस्कू रोमानिया को एक विश्वशक्ति बनाना चाहता था. इसके लिए ज़रूरी था बड़ी जनसंख्या का होना. इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने गर्भपात पर प्रतिबंध लगा दिया था. इसी वजह से पूरे रोमानिया में तलाक़ लेना भी मुश्किल बना दिया गया था. चूंकि चाचेस्कू छोटे क़द का था, इसलिए वह हर चीज बड़ी पसंद करता था.

उसने राजधानी बुखारेस्ट में अरबों डॉलर ख़र्च कर 'पीपुल्स हाउज़' बनवाया था जिसका हीटिंग और बिजली का ख़र्च आज के ज़माने में लाखों डॉलर का आता है और भवन बन जाने के 25 साल बाद भी इसके 70 फ़ीसदी कमरे अभी तक ख़ाली हैं. करीब 15,000 मज़दूर इस भवन को बनाने में लगे हुए थे और वे तीन शिफ्टों में काम करते थे. वह अक्सर इस भवन का मुआयना करने जाता था. दिसंबर, 1989 आते आते वह वहाँ सप्ताह में तीन चार बार आने लगा था.

चाचेस्कू की जीवनी 'द लाइफ़ एंड ईविल

टाइम्स ऑफ़ निकोलाई चाचेस्कू' लिखने वाले जॉन स्वीनी लिखते हैं कि 15000 मज़दूरों के लिए वहाँ एक भी टायलेट नहीं था. इसलिए पूरे भवन में बुरी तरह से बदबू फैली हुई थी. जब भी चाचेस्कू के आने की ख़बर मिलती, मज़दूरों का एक दल दौड़ कर उस इलाके की गंदगी को साफ़ कर देता, जहाँ चाचेस्कू को जाना होता था. एक दिन चाचेस्कू साफ़ किए गए इलाके से थोड़ा भटक गया और ऐसी जगह मुड़ गया, जहाँ थोड़ा अंधेरा था. अँधेरे में उसका पैर मल के ढेर पर पड़ा और उसके दोनों जूते उसमें बुरी तरह सन गए.

दिन में बीस बार अल्कोहल से हाथ धोता था

स्वीनी आगे लिखते हैं कि ये देख कर कुछ मज़दूरों की हँसी निकल गई. लेकिन जब खुफिया विभाग के लोगों ने उन्हें घूर कर देखा तो वे दूसरी तरफ़ देखने लगे.'

खुफिया विभाग का एक बंदा चाचेस्कू के जूतों पर लगी गंदगी को साफ़ करने लगा. चाचेस्कू अपने गंदे पैरों के साथ अपनी कार की तरफ़ बढ़ा. जहाँ-जहाँ उसके क़दम पड़े, उसके जूतों पर लगी गंदगी के निशान छूटते गए. किसी ने एक शब्द भी नहीं कहा, न ही कोई हँसा, मानो कोई एटम बम फूट गया हो.'

कल्पना कीजिए कि चाचेस्कू का क्या हाल हुआ होगा, जिसकी सफ़ाई के प्रति इतनी दीवानगी थी कि इनफ़ेक्शन से बचने के लिए वह एक दिन में बीस बार अपने हाथ अल्कोहल से धोया करता था.

सोवियत संघ का खुलेआम विरोध

सोवियत कैंप में रहने के बावजूद चाचेस्कू को सोवियत संघ को तंग करने में बहुत मज़ा आता था और वह अक्सर ऐसे विश्व नेताओं को अपने यहाँ आमंत्रित करता था, जो सोवियत संघ की आलोचना किया करते थे. 1966 में उसने चीन के प्रधानमंत्री चाऊ एन लाई को रोमानिया बुलाया और फिर 1967 में अमरीका के भावी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन उसके मेहमान बने.

हाल ही में छपी किताब 'हाऊ टू बी ए डिक्टेटर' लिखने वाले फ्रैंक डिकोटेर लिखते हैं कि चाचेस्कू का सबसे बुरा क्षण तब आया, जब सोवियत संघ ने साम्यवाद के खिलाफ़ विद्रोह को दबाने के लिए चेकोस्लोवाकिया पर हमला कर दिया. बुल्गारिया, पोलैंड और हंगरी ने सोवियत संघ के समर्थन में अपने सैनिक भेजने का वादा किया, लेकिन रोमानिया सोवियत संघ के समर्थन में नहीं उतरा.

जब प्राग में सोवियत टैंक घुसे, चाचेस्कू ने पैलेस स्कवायर में एक बड़ी जनसभा को संबोधित करते हुए लियोनिद ब्रेझनेव के इस कदम की निंदा की और इसे एक बड़ी ग़लती बताया. उसने कहा कि इससे यूरोप में शाँति को बहुत बड़ा ख़तरा पैदा हो गया है. यह कह कर वह रातोंरात राष्ट्रीय हीरो बन गया.'

जब चाचेस्कू चीन गया तो वहाँ के पूरे नेतृत्व ने हवाई अड्डे पर उपस्थित होकर उसका स्वागत किया. सड़क के दोनों ओर हज़ारों बीजिंगवासी हाथ हिलाहिला कर उसके प्रति अपना सम्मान व्यक्त कर रहे थे. बीजिंग के थियानानमेन चौक में उसके लिए एक बड़े जिमनास्टिक शो का भी आयोजन किया गया. लेकिन हिटलर की इटली की पहली यात्रा की तरह चाचेस्कू ये नहीं ताड़ पाया कि चीन की उसके प्रति इतनी गर्मजोशी महज़ दिखावा थी.

चीन से लौट कर चाचेस्कू ने अपने देश में भी एक तरह की मिनी सांस्कृतिक क्रांति की शुरुआत की. प्रेस पर सेंसरशिप में थोड़ी ढील दी गई और टेलीविजन पर कुछ विदेशी कार्यक्रम दिखाए जाने लगे. लेकिन ये छूट संकुचित थी, क्योंकि चाचेस्कू ने साफ़ कर दिया कि उसकी समाजवादी सरकार में लेनिनवाद और मार्क्सवाद को ही प्रमुखता दी जाती रहेगी.

बड़े अक्षरों में नाम

चाचेस्कू ने अपने बारे में कई भ्रांतियाँ प्रचलित कराईं. मसलन उसके एक फ्रेंच जीवनीकार माइकल पियर हेमलेट ने लिखा कि वह अत्यंत ग़रीबी में पैदा हुआ था और अपने स्कूल नंगे पैर जाया करता था. 1972 में डोनल्ड कैचलोव ने लंदन में उसकी जीवनी प्रकाशित करवाई, जिससे चाचेस्कू के मिथक को फैलने में और मदद मिली. इस पुस्तक में लिखी एक एक बात का चाचेस्कू ने खुद अनुमोदन किया और ये भी बताया कि इसकी कितनी प्रतियाँ छापी जाएं. चाचेस्कू के प्रति चापलूसी इस हद तक बढ़ गई थी कि रोमानिया का प्रमुख अख़बार 'सिनतिया' उसको रोमानिया का जूलियस सीज़र, नेपोलियन, पीटर महान और लिंकन कह कर पुकारने लगा.

उसकी 60वीं सालगिरह पर रोमानिया के एक और राजनेता कौंसटानटिन पिरवुलेस्कू ने उसे रोमानिया के इतिहास के सबसे लोकप्रिय नेता की संज्ञा दे डाली. व्यक्ति पूजा इस हद तक बढ़ गई थी कि उसके नाम को बड़े अक्षरों में लिखा जाने लगा. उसको दूसरी बार रोमानिया के सबसे बड़े नागरिक सम्मान 'हीरो ऑफ़ द सोशलिस्ट रिपब्लिक ऑफ़ रोमानिया' से सम्मानित किया गया.

यूगोस्लाविया ने उसे 'हीरो ऑफ़ सोशलिस्ट लेबर' का सम्मान दिया और अमरीका के राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने उसका और उसकी पत्नी का व्हाइट हाउस में ज़ोरदार स्वागत किया.

बकिंघम पैलेस में प्रवास

1979 में चाचेस्कू ब्रिटेन गया, जहाँ वह महारानी एलिज़ाबेथ के साथ बग्घी पर बैठ कर लंदन की सड़कों पर गुज़रा. उसको बकिंघम पैलेस में ठहराया गया. उस समय वहां तब अटपटी स्थिति पैदा हो गई, जब चाचेस्कू के अंगरक्षकों ने उसको दिए जाने वाले भोजन को पहले खुद चखा.

जॉन स्वीनी ने अपनी किताब में लिखा है कि ऊपर से तो चाचेस्कू की यात्रा बहुत सफल दिखाई दे रही थी, क्योंकि महारानी ने उसे प्वाइंट 270 बोर की एक टेलिस्कोपिक राइफ़ल भेंट में दी और एलीना को सोने और हीरे का एक 'ब्रोच' उपहार में मिला.

बकिंघम पैलेस उस ज़माने में और आज भी अपनी शानदार मेहमाननवाज़ी और बेहतरीन खानपान के लिए मशहूर है. लेकिन महारानी भी ये देख कर बहुत धक्का लगा कि चाचेस्कू हर एक शख़्स से हाथ मिलाने के बाद अल्कोहल से अपने हाथ धोया करता था.

खाने पर कर और हीटिंग पर रोक

चाचेस्कू के शासन का पूरा दौर रोमानिया

की जनता के लिए अभाव का दौर था. हर जगह चीज़ों को लेने के लिए लंबी कतारें लगी रहती थीं। दुकानों में फल नहीं के बराबर थे. कभी कभी कुछ सेब और आड़ू दिख जाते थे. सबसे बड़ी समस्या ऊर्जा की थी। हर तीन में से एक बल्ब ही जला करता था और सार्वजनिक वाहनों के रविवार को चलने पर मनाही थी. चाचेस्कू ने बड़ा औद्योगिक 'बेस' बनाने के लिए पश्चिमी देशों से भारी मात्रा में तकनीक, कच्चा माल और यंत्र आयात किए थे. लेकिन 1979 में तेल की कीमतें बढ़ जाने की वजह से उसे बढ़ी दर से ब्याज देना पड़ रहा था. अचानक उसने सारे ऋण को तुरंत एक साथ चुकाने का फ़ैसला लिया. नतीजा ये हुआ कि किफ़ायती कार्यक्रम लागू किए गए. आयात कम कर दिए गए और निर्यात बढ़ा दिए गए.

खाने पर कर लगा दिया गया. बिजली की खपत में भारी कटौती की गई और लोग कड़कड़ाती ठंड में भी अँधेरे में बिना किसी हीटिंग के काँपते हुए रहने के लिए मजबूर हो गए. उस पर तुर्रा ये था कि चाचेस्कू उन्हीं लोगों से एहसान मानने की उम्मीद भी कर रहा था, जिनकी आम जिंदगी को उसने नर्क बना दिया था.

पीठ पीछे अपशब्द

चाचेस्कू की व्यक्ति पूजा का आलम ये था कि ये क़ानून बना दिया गया था कि हर पाठ्य पुस्तक के पहले पन्ने पर उसका चित्र होना ज़रूरी था. टेलीविजन पर सिर्फ एक चैनल से प्रसारण होता था. आधे कार्यक्रमों में सिर्फ चाचेस्कू की गतिविधियाँ और उपलब्धियाँ दिखाई जाती थीं. किताबों की दुकानों और म्यूजिक स्टोर्स के लिए उसके भाषणों का संग्रह रखना ज़रूरी था. छोटे से छोटा फ़ैसला भी बिना चाचेस्कू की अनुमति के नहीं लिया जा सकता था.

यहाँ तक कि सड़कों के नाम बदलने के लिए भी उसकी सहमति लेनी ज़रूरी होती थी. जब दो फुटबॉल टीमों के बीच मैच होता था, तो चाचेस्कू की पत्नी तय करती थी कि जीत किसकी होगी और ये मैच टेलीविजन पर दिखाया जाएगा या नहीं. ऊपरी तौर पर तो सभी अपने नेता का गुणगान करते थे, लेकिन अंदर ही अंदर उसे कोसा करते थे. चाचेस्कू जब भी किसी भवन का मुआयना करने सार्वजनिक तौर पर आता था, तो लोग तालियाँ बजाकर उसका स्वागत करते थे. लेकिन जैसे ही वह वापस जाता था, उसके लिए अपशब्दों की बौछार शुरू हो जाती थी.

21 दिसंबर, 1989 का अंतिम भाषण

17 दिसंबर, 1989 को रोमानिया के सैनिकों ने तिमिस्वारा के प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ चलाईं. इसके बाद ही पूरे देश में प्रदर्शनों का दौर शुरू हो गया. 21 दिसंबर, 1989 को निकोलाई चाचेस्कू ने बुखारेस्ट के मध्य में पार्टी मुख्यालय की बालकनी से एक जन सभा को संबोधित किया. अभी भाषण देते कुछ ही मिनट हुए थे कि पीछे की तरफ़ से सीटियों और तानों की आवाजें आने लगीं. चाचेस्कू ने हाथ उठा कर और माइक को 'टैप' कर लोगों को शांत कराने की कोशिश की, लेकिन पीछे से आता शोर जारी रहा. चाचेस्कू ये देख कर अवाक रह गया. उसकी पत्नी एलीना ने भी आगे बढ़ कर भीड़ को नियंत्रित करने की कोशिश की. वह चिल्लाती रही, शांत हो जाइए. आपको क्या हो गया है?

लेकिन भीड़ पर उसका कोई असर नहीं पड़ा. अपनी रूखी आवाज़ में उसने माइक पर ही अपने पति को सलाह दी कि न्यूनतम वेतन को बढ़ाने का ऐलान कर दो. उसने ये किया भी, लेकिन भीड़ पर इसका कोई असर नहीं पड़ा और थोड़ी ही देर में जनसभा दंगे में तब्दील हो गई.

क्रांति की शुरुआत

इस भाषण को टेलीविजन पर लाइव दिखाया जा रहा था. जैसे ही टेलीविजन का पर्दा ब्लैंक हुआ, हर एक ने महसूस किया कि क्रांति की शुरुआत हो चुकी है. पूरे देश में लोग विरोध प्रदर्शनों में शामिल हो गए. हर जगह सरकारी भवनों पर हमले किए जाने लगे और चाचेस्कू की तस्वीरें फाड़ी जाने लगीं.

चाचेस्कू ने सेना को विद्रोह को कुचलने का आदेश दिया. पूरी रात उसने खुद विद्रोहियों पर गोलियां चलाईं लेकिन वह उन्हें दबाने में असफल रहा.

भागते समय लिफ्ट में फंसा

अगले दिन सेना भी विद्रोह में शामिल हो गई. गुस्साए प्रदर्शनकारियों ने पार्टी मुख्यालय को घेरना शुरू कर दिया. एलीना और चाचेस्कू को हेलिकॉप्टर से भागना पड़ा. लेकिन यहाँ भी ड्रामा जारी रहा. चाचेस्कू लिफ्ट से भवन की छत पर गया, जहाँ एक हेलिकॉप्टर उसका इंतज़ार कर रहा था. जैसे ही चाचेस्कू लिफ्ट में घुसा, उसका सेनाध्यक्ष जनरल स्टैनकुलुस्कू कार में बैठ कर रक्षा मंत्रालय की तरफ़ रवाना हो गया. अपनी कार से ही उसने सुरक्षा बलों को आदेश दिए कि वे भवन की रक्षा करना छोड़ दें. जैसे ही सैनिक वहाँ से हटे, क्रांतिकारी भवन में घुसना शुरू हो गए. लेकिन उन्हें इस बात का अंदाज़ा नहीं था कि चाचेस्कू अभी भी भवन के अंदर मौजूद है, क्योंकि उसकी लिफ्ट के दरवाज़े जाम हो चुके थे.

किसी तरह लिफ्ट के दरवाज़े को तोड़ कर चाचेस्कू को निकाला गया. जैसे ही क्रांतिकारी छत पर पहुंचे, हेलीकॉप्टर ने वहाँ से उड़ान भरी. हेलीकॉप्टर में इतनी कम जगह थी कि पायलट के साथी को बैठने के लिए चाचेस्कू के घुटनों का सहारा लेना पड़ा.

क्रूर अंत

पायलट ने हेलीकॉप्टर राजधानी बुखारेस्ट के बाहर एक खेत में उतारा और वह चाचेस्कू दंपत्ति को एक अंगरक्षक के साथ छोड़ कर वापस उड़ गया. उसी दिन चाचेस्कू और उसकी पत्नी को गिरफ्तार कर लिया गया. क्रिसमस के दिन दोनों पर एक सैनिक अदालत में मुकदमा चलाया गया और उन्हें मौत की सज़ा सुनाई गई. दोनों के हाथ बाँध कर एक दीवार के सामने खड़ा किया गया. पहले दोनों को अलग अलग गोली मारी जानी थी, लेकिन एलीना ने कहा कि वे साथ साथ मरना पसंद करेंगे. सैनिकों ने निशाना लिया और 25 सालों तक रोमानिया पर राज करने वाला निरंकुश तानाशाह निकोलाई चाचेस्कू धराशाई हो गया.

मार्क्सवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स ने एक बात बिल्कुल सही कहा था कि लोग अपना इतिहास खुद बनाते हैं, लेकिन इतिहास कभी उनकी पसंद से नहीं बनता. **-बीबीसी**

न खेत, न किसान फिर भी किसानी में क्रांति ला रहा है जापान

❑ फ़ातिमा कामता

जापानी वैज्ञानिक मोरी अपने फल और सब्जियों को एक पॉलीमर फिल्म पर उगाते हैं।

दिलचस्प यह है कि इस फिल्म को सबसे पहले इंसानी शरीर के बेहद अहम अंग किडनी के इलाज के लिए विकसित किया गया था. इस पॉलीमर फिल्म के सबसे ऊपरी सतह पर पौधे उगते हैं, जहां पानी और पोषक तत्व जमा हो सकते हैं. इतना ही नहीं यहां सब्जियां किसी भी वातावरण में उग सकती हैं. इस तकनीक में परंपरागत खेती की तुलना में 90 प्रतिशत कम पानी खर्च होता है. इसमें किसी कीटनाशक की ज़रूरत भी नहीं होती है क्योंकि पॉलीमर खुद से वायरस और बैक्टीरिया को रोकने में सक्षम होता है.

किसानी में क्रांति : यह एक उदाहरण है, जिससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि जापान किस तरह से खेती किसानी में क्रांति ला रहा है, हालांकि उसके पास न तो खेत हैं और न ही खेती करने वाले किसान.

यूकी मोरी बताते हैं कि मैंने खेती के लिए पॉलीमर फिल्म का इस्तेमाल किया है, जिसका इस्तेमाल किडनी के डायलिसिस के दौरान खून को छानने के लिए किया जाता है. उनकी कंपनी मेबॉयल ने इस खोज के पेंटेंट का 120 देशों में पंजीयन करा लिया है. इससे जापान में चल रही कृषि क्रांति का अंदाजा होता है- दरअसल ऑर्टीफिशियल इंटेलिजेंस (एआई), इंटरनेट ऑफ़ थिंग्स (आईओटी) और अत्याधुनिक तकनीकों की मदद से खेतों को तकनीकी केंद्रों में तब्दील किया जा रहा है.

फसलों की निगरानी और रखरखाव में सटीकता बढ़ाने की एग्रोटेक्नॉलॉजी की क्षमता निकट भविष्य में अहम साबित हो सकती है. इस साल की जल संसाधान विकास को लेकर यूएन की वर्ल्ड रिपोर्ट में अनुमान लगाया गया है कि पर्यावरण क्षरण और जल संसाधन में कमी की मौजूदा दर जारी रही तो 2050 तक अनाज उत्पादन में 40 प्रतिशत की गिरावट हो सकती है जबकि ग्लोबल जीडीपी में 45 प्रतिशत की कमी संभव है.

खेती के लिए जिस तरह की तकनीक यूकी मोरी ने विकसित की है, उस तरह की तकनीकें जापान के 150 जगहों पर अपनायी जा रही है जबकि संयुक्त अरब अमरीत जैसे दूसरे देशों में इसके जरिए खेती हो रही है. मार्च, 2011 में हुए परमाणु हादसे और भूकंप के बाद उत्तरी पूर्वी जापान के खेती किसानी वाले इलाके में फैले सुनामी जनित पदार्थों और विकिरण संबंधी प्रदूषणों के चलते इस तरह के तरीके इलाके में जन जीवन को पटरी पर लाने में अहम साबित हो रहे हैं.

कम लोगों के साथ किसानी : तकनीक की मदद से जापानी सरकार खेती किसानी के प्रति युवाओं में दिलचस्पी जगाना चाहती है, यह वह तबका है, जो खेतों में सीधे काम तो नहीं करना चाहता है लेकिन उसकी दिलचस्पी तकनीक में है.

सरकार की कोशिश अर्थव्यस्था के कृषि सेक्टर में काम करने वाले लोगों की संख्या बढ़ाने की भी है. बीते एक दशक में, जापान में कृषि उत्पादन के क्षेत्र में लगे लोगों की संख्या 22 लाख से गिरकर 17 लाख रह गई है. इसमें से ज्यादातर श्रमिकों की औसत आयु 67 साल की हो चुकी है और अधिकतर किसान पार्ट टाइम काम करते हैं, ये बात स्थिति को और भी चिंताजनक बनाती है.

जापान की भौगोलिक स्थिति, जापान की खेती किसानी को काफी हद तक प्रभावित करती है. जापान अपनी ज़रूरत का महज 40 प्रतिशत अन्न उत्पादित करता है. जापान के ज़मीनी हिस्से का 85 प्रतिशत हिस्सा पर्वतीय है. खेती के लिए उपयुक्त जमीन के अधिकांश हिस्से में धान की खेती होती है. चावल हमेशा से जापानियों का प्रमुख भोजन रहा है. सरकार किसानों को एक हेक्टेयर की छोटी जमीन में भी धान की खेती के लिए अनुदान मुहैया कराती है. हालांकि अब लोगों के खान पान की आदत बदल रही है.

ड्रोन से छिड़काव : जापान में प्रति व्यक्ति सालाना चावल के खपत में कमी हुई है. 1962 में 118 किलोग्राम थी, जो 2006 में घटकर 60 किलोग्राम से भी कम रह गई है. इसके चलते खेती में भी विविधता देखने को मिल रही है. लेकिन खेती किसानी में हाथ बंटाने के लिए लोग ही नहीं हैं, लिहाजा मशीनों और बायोटेक्नोलॉजी पर निर्भरता बढ़ रही है.

फसलों पर कीटनाशक का छिड़काव करने के लिए ज्यादा से ज्यादा ड्रोन का इस्तेमाल किया जा रहा है, जिस काम को इंसान पूरे दिन में किया करते हैं, उसे ये ड्रोन महज आधे घंटे में पूरा कर देते हैं. उच्च तकनीक के चलते फसलों के लिए अब खेतों की ज़रूरत भी नहीं रह गई है.

ग्रीनहाउसेज और हायड्रोपोनिक्स (बिना ज़मीन के पौधों को उगाने की तकनीक, जिसमें खनिज और पोषक तत्वों का इस्तेमाल पानी के घोल में करते हैं) के अलावा जापान अब फल और सब्जियां भी इन तकनीकों की मदद से उगा रहा है. फर्श से लेकर छत तक शेल्फ बनाकर हर दिन के लिहाज से 10 हज़ार लोगों के लिए सलाद में इस्तेमाल होने वाले लेट्यूस उगाया जाता है.

परंपरागत तरीके की तुलना में इसमें उत्पादकता 100 गुना ज्यादा हो जाती है. सेंसर उपकरणों की जगह से कंपनी कृत्रिम प्रकाश, द्रव पोषक, कार्बन डायाक्साइड के स्तर और तापमान को नियंत्रित रखती है. कृत्रिम रोशनी के चलते पौधे तेज़ी से बढ़ते हैं और बीमारियों से होने वाले नुकसान को भी नियंत्रित रखना संभव होता है.

ज्यादा ऊर्जा लागत होने के बावजूद बीते एक दशक में ऐसे पौधों वाले फैक्ट्रियों की संख्या तीन गुना बढ़कर 200 हो चुकी है. हायड्रोपोनिक्स का मौजूदा बाज़ार 1.5 अरब डॉलर से ज्यादा का है, लेकिन कंसल्टेंसी फर्म एलाइड रिसर्च का अनुमान है कि 2023 तक यह चार से भी ज्यादा गुना बढ़कर 6.4 अरब डॉलर हो जाएगी.

तकनीक का स्थानांतरण : जापान ने अफ्रीकी देशों के सालाना चावल उत्पादन को 2030 तक दोगुना बढ़ाकर 50 मिलियन टन पहुंचाने में मदद करने का लक्ष्य रखा है, इस दिशा में कई प्रोजेक्ट पर काम चल रहा है. उदाहरण के लिए, सेनेगल में खेती किसानी करने वाले टेक्नीशियनों और सिंचाई क्षेत्र की तकनीक में ट्रेनिंग देने के लिए जापान ने निवेश किया है. इसके चलते प्रति हेक्टेयर चार से सात टन धान की उत्पादकता बढ़ेगी और उत्पादकों की आमदनी 20 प्रतिशत बढ़ जाएगी.

जापान की रणनीति अफ्रीकी महादेश के कृषि क्षेत्र में सतत विकास के लिए निजी निवेश और कारोबार को बढ़ावा देने की है. इसके अलावा वियतनाम और म्यांमार में भी सहयोगात्मक गतिविधि चल रही है. ब्राजील में भी कुछ प्रोजेक्टों पर काम चल रहा है. लेकिन जापान की क्रांति का मुख्य उद्देश्य अपनी खाद्य सुरक्षा की स्थिति को बेहतर बनाना है. जापान के अधिकारी 2050 तक अपनी खाद्य ज़रूरतों का 50 प्रतिशत हिस्सा उत्पादित करना चाहते हैं. और यह काम वह तकनीक की मदद से करना चाहते हैं. ❑

दरकते पहाड़ों की अकथनीय व्यथा

❑ विजय विशाल

आधुनिक विकास और पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा में टकराव का रिश्ता है या यूं कहें, दोनों में छत्तीस का आंकड़ा है। विकास की नई ऊँचाइयों को छूने के लिए और स्वस्थ जीवन के लिए समाज को दोनों की ही जरूरत रहती आई है।

नयी परियोजनाएं जहां समाज को आगे ले जाने में अपनी भूमिका निभाती हैं वहीं रोजगार के नए अवसर भी पैदा करती हैं, मगर इन परियोजनाओं से पहाड़ों, जंगलों और नदियों को जो नुकसान होता है, वह मनुष्य के अस्तित्व को ही चुनौती देने लगता है। आज पहाड़ी प्रदेशों के सामने ऐसी ही परिस्थितियां मुंह बाए आ खड़ी हुई हैं।

कहावतों या किंवदंतियों के बारे में कहा जाता है कि ये समूचे समाज के सांझे अनुभवों की सटीक अभिव्यक्ति होती हैं। लगातार भूकंप की चपेट में रहने वाले जापान की एक कहावत है- 'आपदा तब आती है, जब आप उसे भूल जाते हैं।' इस कहावत के निहितार्थ हमें इस तरह समझना होता है कि हम जिस पारिस्थितिकी या भूगोल में रहते हैं, उसके खतरों से हमेशा भिज्ञ रहें और उसके अनुकूल ही स्वयं को ढालने की कोशिश करें। शायद जापान अपनी इस कहावत के मर्म को समझता है, इसलिए निरंतर बड़े भूकंप भी वहां भयानक आपदा नहीं बन पाते। लेकिन हमारी स्थिति जापान से उल्टी है। हम स्वयं आपदाओं को निमंत्रण देते हैं। देश में इसका एक बड़ा उदाहरण 2013 में उत्तराखण्ड त्रासदी के रूप में देखने को मिला था और वर्ष 2018 में केरल की बाढ़ में देखा गया था। हिमाचल जैसे पहाड़ी राज्यों में तो जब तब छोटी-छोटी घटनाओं के रूप में देखने को मिलता ही रहता है।

हालांकि मैं न कोई पर्यावरणविद् हूँ और न ही विकास परियोजनाओं की तकनीकी जानकारियां रखने वाला व्यक्ति हूँ। मगर एक सजग नागरिक की हैसियत से अपने चारों तरफ घटने वाली घटनाओं पर सचेत नजर रखता हूँ। इस समय हिमाचल प्रदेश में विकास के नाम पर जो सबसे बड़ी परियोजनाएं चल रही हैं या चर्चा में हैं, वे हैं नये नेशनल हाईवे का निर्माण व पुराने नेशनल हाईवे को चौड़ा करके फोरलेन में तबदील करना।

इसमें दो राय नहीं कि इस पहाड़ी राज्य में बहने वाले नदी-नाले जैसे यहां की आर्थिक सम्पन्नता के संसाधन व स्रोत हैं, वैसे ही इन पहाड़ों में निकलने वाली सड़कें यहां के लोगों की जीवन रेखाएं हैं। मगर जिस अबाध गति से अब यहां यह प्रक्रिया चल रही है, अर्थात् पहले से निर्मित नेशनल हाईवे को फोरलेन में बदलने की तथा अनेक नए नेशनल हाईवे के निर्माण की घोषणाएं हो रही हैं, उससे कई सवाल उपजते हैं।

जिस गति से इन सड़कों के निर्माण के लिए भूमि अधिग्रहण हो रहा है, उससे न केवल कृषि भूमि कम हो रही है अपितु अनेक परिवार रोजगारविहीन हो रहे हैं। भूमि अधिग्रहण से मिलने वाले पैसे के निवेश के लिए उचित संसाधनों के अभाव में वह उच्छृंखलता को बढ़ाने में सहायक हो रहा है। लोग नशे की गिरफ्त में पड़ते जा रहे हैं। खास कर नई पीढ़ी में नये नशों का प्रचलन बढ़ रहा है। नए मॉडल की महंगी गाड़ियां बिना जरूरत खरीदी जा रही हैं, जिससे सड़कों पर परिवहन का दबाव निरंतर बढ़ता जा रहा है।

राज्य सरकारों का पूरा ध्यान इन नव निर्मित नेशनल हाईवे व फोरलेन की तरफ होने से हम दूर देहातों की सड़कों से विमुख हो रहे हैं। उनकी हालत निरंतर खस्ता होती जा रही है। पहाड़ों की देहाती सड़कें सुरक्षा के कोई मानक पूरे नहीं करतीं, जिससे सड़क दुर्घटनाओं में इजाफा हो रहा है। इनमें बेशकीमती युवा जिन्दगियां समाप्त हो रही हैं। इससे मुझे लगता है कि नये हाईवे बनाने के बजाय सरकार पहले से बनी इन पुरानी सड़कों की बेहतरी के लिए काम करे। इन्हें सुरक्षा के मानकों के तहत लाये।

यह तर्क अपनी जगह सही हो सकता है कि नेशनल हाईवे व फोरलेन पर्यटकों को आकर्षित करते हैं, इनके निर्माण से पर्यटन व्यवसाय बढ़ेगा। मगर अपने प्रदेश के लोगों की जिन्दगी को असुरक्षित रखकर व्यवसाय करना समझदारी नहीं कही जा सकती।

जहां तक मैं अपने प्रदेश की भोगौलिक परिस्थितियों को समझता हूँ तो मुझे लगता है कि इस पहाड़ी प्रदेश को उचित परिवहन नीति की भी आवश्यकता है जो फिलहाल मुझे नजर नहीं आती। संकरे रास्तों पर भारी भरकम गाड़ियों को चलने देना स्वतः ही दुर्घटना को आमंत्रण देना है।

कुल्लू के रास्ते में पण्डोह के आगे जिस निर्ममता से पहाड़ियों को काटने और उनके भीतर अनेक सुरंगे निकालने का कार्य चल रहा है, उसे देखते हुए लगता है कि हम उत्तराखण्ड की त्रासदी से कोई सबक नहीं लेना चाहते। जून 2013 में आई उस आपदा में सरकारी आंकड़ों के अनुसार चार हजार से ज्यादा और गैर सरकारी स्वतंत्र संस्थाओं के अनुसार दस हजार से ज्यादा जाने गयी थीं।

इस त्रासदी के बाद हुए अनेक अध्ययनों में यह बात सामने आयी थी कि बिजली परियोजनाओं के नाम पर वहां पहाड़ों के भीतर सुरंगें खोदकर उन्हें पूर्णतः खोखला किया जा चुका था, जिससे यह त्रासदी संभव हो पाई थी।

दूसरा, मुझे लगता है कि इन सुरंगों को निकालने व पहाड़ों को काट कर सड़कें बनाने में लगे अधिकतर अकुशल मजदूर होते हैं। विज्ञान सम्मत खनन से इनका दूर-दूर तक का कोई वास्ता नहीं होता।

यहां भी यह देखने-सुनने को मिला कि बड़ी-बड़ी कम्पनियों ने सुरंगों की खुदाई व पहाड़ों की कटाई का ठेका तो सरकार से ले रखा है, मगर वास्तव में ये कम्पनियां स्वयं इस कार्य को नहीं कर रही हैं। इसके बजाय इन बड़ी कम्पनियों ने यह कार्य स्थानीय स्तर पर ठेके पर दे रखा है, जिससे स्थानीय जेसीबी मालिक ठेकेदार बने हुए हैं और जेसीबी चालक इंजीनियर की भूमिका निभा रहे हैं।

पूरे परिदृश्य को देखकर कई बार तो ऐसे लगता है जैसे देश के दूसरे राज्यों की तरह इस पहाड़ी प्रदेश में भी खनन माफिया व बड़े ठेकेदार विकास परियोजनाओं पर कब्जा जमाए बैठे हैं। वे ही अपने मन माफिक विकास योजनाएं सरकार से बनवा रहे हैं, उन्हें पास करवा रहे हैं और फिर कार्यान्वित भी कर रहे हैं।

ऐसा लगता है कि प्रदेश के जल, जंगल व जमीन पर इन ठेकेदारों का कब्जा हो गया है और प्रदेश सरकार इन नीतियों को विकास के नाम पर प्रचारित करके वोट बटोरने में लगी हुई है। उसकी चिंता दीर्घकालीन नुकसानों को लेकर नहीं है। ❑

गाँव की प्रेम पाती अपने चाहने वालों के नाम!

❑ दीपक गौतम

मैं गाँव हूँ, जो धड़कता रहता है हर उस शख्स के अंदर, जिसने मुझे अपनी आत्मा में ओढ़ रखा है। अब तलक कायनात में वह रूह ही नहीं उतरी, जिसने मुझे कभी न कभी जिया न हो। मैं तो रूह को फानी कर देने वाली हवाओं से संवरा हूँ। महज़ मेरी सोंधी मिट्टी की खुशबू मरती हुई काया में प्राण फूँक सकती है। क्योंकि मैं गाँव हूँ। मैं भला कहाँ किसी से कहने जाता हूँ कि मुझे अपने अंदर पालो। मैं दिखता जरूर छोटा हूँ, लेकिन असल में बहुत विशाल हूँ। मुझ में ये पूरा देश समाया है। मैं इंसान के इतर जगत के और अन्य प्राणियों को कई जन्मों से पाल रहा हूँ। क्या तुम्हें याद नहीं है कि बचपन में जब तुम्हें चोट लगी थी, तो मैंने ही तुम्हारे छिले हुए घुटने पर अपनी सुनहरी भस्म मली थी। क्या तुम भूल गए कि तभी तुम्हारे जी को आराम आया था?

सुनहरी भस्म

क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि मेरी जिस सुनहरी भस्म को तुम धूल कहते हो, उसी में लोटपोट कर तुमने अपने पैरों पर चलना सीखा है। तुम्हारे पिता और तुम्हारे पिता के पिता भी जब बचपन में मेरी गोद पर सिर रखकर सोते थे, तो मैं उनकी आत्मा में बिंध जाया करता था। तुम मुझे आज भले ही पहचानने से इंकार कर दो, लेकिन छुटपन में खेलते समय गिरते-पड़ते हुए तुम्हारे बदन पर पड़े चोट के निशान मेरा चुम्बन समझकर तुमने सहेज ही रखे होंगे। वे चुम्बन तुम्हें कभी भी झूठ नहीं बोलने देंगे। भला अपनी आत्मा पर हाथ रखकर कह दो कि वे निशान तुम्हारी आत्मा पर मेरे स्पर्श के, मेरी छुअन के, मेरे अपनेपन के, मेरी माटी के, मेरे बेहिसाब चुम्बनों के गवाह नहीं हैं?

तुम्हारे आलिंगन का इंतजार

क्या तुम नहीं जानते कि प्रेम में पगे चुम्बन कभी झूठे नहीं होते हैं? वे हमेशा वक्त की सुनहरी जंजीरों पर लिपट जाया करते हैं। गोया कि जैसे किसी ठहरी हुई याद के फाहे हों। यूँ ही वे मन को ठंडक देते रहते हैं। मुझे माफ करना ! मैं अपनी बतकही में तुम्हारा हाल-समाचार तो लेना ही भूल गया था। सुना है कि तुम किसी बड़े शहर में रहने लगे हो। मुझे न जाने कितने सालों बाद कोरोना काल में मेरी पगडंडी और खेतों पर चलते वक्त तुम्हारा स्पर्श मिला था। शायद शहर में तुम चप्पल पहनते होगे। यहां न जाने क्यों तुम सुबह-सुबह उगते सूरज को देखने खेत पर खड़े थे, तभी तुमने मेड़ पर बिछी मेरी घास की चादर पर अपना पैर रखा था। बस मैंने तभी तुम्हें छू लिया था। मैं उस दिन तुमसे लिपटकर रोना चाहता था, लेकिन तुम्हारे आलिंगन का इंतजार ही करता रह गया।

तुम कुछ देर रुककर उल्टे पाँव अपने घर चले गए थे। मैं तुम्हारी छुअन अब तक नहीं भूला हूँ। मैं तुम्हें तभी पहचान गया था। हाँ वह तुम ही थे। यकीनन तुम ही थे, जिसने वर्षों बाद मुझे मेरे बचपन का अहसास कराया था।

शायद तुम नहीं जानते हो कि मैं अब तक तुम्हारे दिल की धड़कनों से साँसें चुराता आया हूँ। अब जब तुम सालों-साल मेरे पास नहीं आते, तो तुम्हारी गंध इतने लंबे समय तक अपने नथुनों में सहेज पाना मेरे लिए सम्भव नहीं हो पाता है। क्योंकि मैं अब बूढ़ा हो चला हूँ। मेरे जिस बरगद के पेड़ की लटकने वाली जड़ें कभी तुम्हारा झूला थीं, क्या अब वे तुम्हारी स्मृतियों से जा चुकी हैं?

छद्म और छलावों से दूर

मेरे बरसाती नाले में ही तो तुमने तैरना सीखा है, जो तुम्हारे पिता के बचपन के समय नदी हुआ करता था। लेकिन अब वह नदी से नाला बन चुके पानी का बहता स्रोत बद से बदतर हो गया है। मेरे प्यारे, तुमने मेरी सुध लेने में बहुत रोज लगा दिए हैं। तुम्हें मेरी याद तब आई है, जब 'कोरोना काल' में 'लॉकडाउन' के जानवर ने तुम्हारी आँख में पड़ी शहरी मायाजाल के भ्रम की पट्टी को नोंचकर फेंक दिया है। मैं छद्म और छलावों से दूर हूँ। शायद इसीलिए मीलों-मील पैदल चलकर लौटे मजदूरों से लेकर महिलाओं, बच्चों और तुम तक हर व्यक्ति को मैंने पाला है।

स्नेह की आँच में पकी थाली

ये जो थाली तुम्हें दिख रही है न, इसमें जुंढ़ी (ज्वार) की चाची और अम्मा के हाथ की पोयी मोटी रोटी है। आलू और टमाटर का भुर्ता है। कुम्हड़े की बरी वाली रसीली तरकारी है। सिलबट्टे पर पिसा लहसुन, धनिया, कैथे की चटनी और थोड़ा सा गुड़ है। शहर में तुमने खूब छप्पन भोग उड़ाए हैं, लेकिन मेरी ये थाली उसे भी मात देती है। क्योंकि इसमें परोसा गया अन्न अम्मा के स्नेह की आँच में पका है। क्या तुम इस थाली को कभी भूल सकते हो? मौसम के अनरूप ये थाली भी अपना रंग बदलती रहती है, ताकि तुम्हारी सेहत पर बदलते मौसम का कोई बुरा असर न पड़े।

शायद तुम नहीं जानते हो कि जीवन इस थाली में परोसी गई बरी वाली तरकारी की तरह सस्टेनेबल है। तुम जानते ही होगे कि बरिहा कुम्हड़ा के फूलते-फरते ही हींग सहित दुनिया भर के मसालों को मिलाकर तैयार हुई ये बरी (बड़ी) तक हमारी दूरदर्शी सोच का परिणाम है। अब तो हाईब्रिड का जमाना है तो सालभर कच्ची सब्जियाँ हाट-बाजार में मिलती रहती हैं। लेकिन ये कुम्हड़ौरी बरी सब्जियों की अनुउपलब्धता वाले मौसम के लिए बनाकर रखी जाती है। खाने के साथ-साथ जीवन जीने की ऐसी तैयारी और अन्य कई उपक्रमों से ही तो मैं भरा पड़ा हूँ।

मैं शाश्वत हूँ

ताश के फड़ से लेकर चौसर और शतरंज की बाजी तक हर बिसात का मैं माहिर खिलाड़ी हूँ। चाहो तो तुम मुझे आजमा सकते हो। तंग गलियों के मामले में मैं उस्तादों का भी उस्ताद हूँ। मेरी चौपाल और चौक-चौराहों की चर्चा हर दिल में होती रहती है। माना कि मैं अखबारों की खबरों से नदारद हूँ, लेकिन हर आदमी की आबादी का खुला इश्तहार हूँ। क्योंकि मैं गाँव हूँ। मुझे तुम्हारे जैसे भूले-भटके लोगों को भी कभी न कभी पालना ही पड़ ही जाता है। मुफ़लिसी के महीने हों या फिर जिंदगी में लॉकडाउन, जीवन के हर बुरे दौर में मैं तुम्हारे साथ खड़ा था, खड़ा हूँ और खड़ा ही रहूँगा, क्योंकि मैं शाश्वत हूँ, क्योंकि मैं तुम्हारा गाँव हूँ।

अनंत की विकास यात्रा का साक्षी

मुझे मिटाने की लगातार कोशिशें होती रही हैं। अब सतत चलने वाले विकास की प्रक्रिया और आधुनिकता की आँधी में मुझे पिछड़ने की दुहाई दी जाती है। लेकिन मैं अनंत की विकास यात्रा का साक्षी रहा हूँ। मैंने बाल-गोपाल की नटखट लीलाओं के साथ अपना बचपन जिया है। कृष्ण और राधा रानी के प्रेम में सनकर जवान हुआ हूँ। मैंने प्रभु प्रेम में दीवानी और पागल हुई मीरा के विष का प्याला भी हंसते-हंसते उसी के साथ पिया है। अब तुम ही कहो प्यारे कि गोकुल से लेकर ब्रज-बरसाने तक जो स्वयं ईश्वर के प्रेम-सागर में गोता लगाकर नहाया हो, अब भला उसे किसी और तरह की प्यास कहाँ? मैं तो प्रेम-प्याले से ही तृप्त हूँ।

प्यारे, मैं अब इस पानी वाली वर्षा या प्यास के जोड़-तोड़ से बहुत आगे बढ़ गया हूँ। तुम ही कहो कि जिसने खुद बांके-बिहारी की रासलीलाओं को जिया हो, तुम उस 'गाँव' नामक संस्था को भला कैसे मार सकते हो? कैसे उसे पिछड़ा कैसे कह सकते हो? मैं तो अनंत की यात्राओं का गवाह हूँ। ईश्वर के अगाध प्रेम की जिस एक बूँद को पाने के लिए योगी, साधक और भक्त युगों-युगों तक तप में तल्लीन रहते हैं, उस प्रेम की 'अमृत-वर्षा' से ही मैं सदैव हरियाता हूँ, क्योंकि मैं गाँव हूँ।

चले आओ लौटकर फिर

मैं खिन्न हूँ कि शहर जाकर तुमने मुझे भुला दिया है। मैं बस कहानी, किस्सों, किताबों और

चित्रों में ही खूबसूरत नहीं हूँ। तुम मुझे करीब से देखो। चले आओ लौटकर फिर तुम्हें उसी इमली या नीम के बिरबा पर चढ़कर नदी में कूदकर नहाना है। चले आओ कि करहों खिल गया है, अमराई जवान हो चुकी है। चले आओ कि यहाँ तुम्हारा प्रेम दफ़न है। अब ये मिट्टी सोना हो गई है। मेरी सुनहरी धूल का वास्ता है तुम्हें, जिसमें पलकर तुम जवान हुए हो। लो फिर वह गज़ल याद आ रही है—'चले भी आओ कि गुलशन का कारोबार चले'। इंकलाबी शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ साहब की ये गज़ल अक्सर तुम्हारी याद में गुनगुनाता रहता हूँ।

मैं सिर्फ तुम्हारी छुअन चाहता हूँ

क्या तुम्हें मालूम है कि मेरे नथुनों में तुम्हारी गन्ध अब भी ताजा है, जबकि तुम्हें वापस गए हुए ज्यादा समय हो गया है? मैं सिर्फ तुम्हारी ही नहीं, बल्कि हर उस रूह के रूहानी इश्क में पागल हूँ, जिसके अंदर मैं समाया हूँ। तुम अब भी आश्चर्य कर रहे हो क्या? मैं तुम्हारा गाँव ही तो हूँ, तुम सबका अपना गाँव ही तो हूँ। तुम मेरे ताप से भला कहाँ बच पाओगे? क्योंकि इस संसार में कोई ऐसी आत्मा नहीं है, जो मेरी छुअन या स्पर्श से वंचित हो। तुम हौले से अपने जी के किवाड़ खोलकर तो देखो, मैं तुम्हारे अंदर न जाने कब से दाखिल हूँ। मैं तुम्हारी आत्मा का हाहाकार हूँ। मैं वही अनहद नाद हूँ, जिसे समाधिस्थ होकर योगी सुनने की चेष्टा करते हैं। चले आओ प्यारे तुम्हारे लिए प्रेम में पगी ये थाली लगा रखी है। मैं जानता हूँ कि तुम अभागे हो, तुमने कई वर्षों से प्रेम के पकवान नहीं खाये हैं। चले भी आओ कि अब मैं तुम्हारे इंतजार में हूँ। मैं सिर्फ तुम्हारी छुअन चाहता हूँ! ❑

युवा प्रशिक्षण शिविर सम्पन्न

16 से 20 फरवरी 2021, सर्व सेवा संघ, वाराणसी परिसर में युवा-युवतियों का पांच दिवसीय शिविर सम्पन्न हुआ। शिविर में पांच दिनों में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, खेती व गांधी जीवन दृष्टि पर चर्चा की गयी। शिविर को सुबह 5 बजे से रात 10 बजे तक विभिन्न सत्रों में बांटा गया था। सुबह 5 बजे जागरण, प्रार्थना, योगासन, ध्यान, श्रमदान, सफाई, चर्चा सत्र, खेलकूद, सांस्कृतिक कार्यक्रम, दिन भर के कार्यों की समीक्षा और रात्रि प्रार्थना के बाद शयन।

16 फरवरी को शिविर के उद्घाटन सत्र में सर्व सेवा संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष चंदन पाल ने कहा कि बिगड़ती सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति और बेरोजगारी के कारण युवाओं के सामने विकट परिस्थिति पैदा हो गयी है, जिसका समाधान हम सबको मिलकर निकालना है। देश में शांति और समृद्धि बिना युवाओं की भागीदारी के संभव नहीं है।

शिविर के प्रथम सत्र में 'गांधीजी की अहिंसा दृष्टि और जीवन मूल्य' विषय पर भागलपुर विश्वविद्यालय के गांधी विचार विभाग के अध्यक्ष प्रो. विनय कुमार ने कहा कि महात्मा गांधी का अहिंसा का विचार एक अहिंसक संस्कृति का सूत्रपात है। हिंसा, हथियार और सब कुछ हथिया लेने की होड़ के विरुद्ध एक मानवीय संस्कृति का आगाज है। सत्य प्रकाश भारत ने कहा कि शोषणविहीन, समतामूलक आर्थिकी और सामाजिकी के लिए गांधी का ग्रामस्वराज्य ही विकल्प और रास्ता है।

दूसरे दिन 17 फरवरी को 'वर्तमान शिक्षा की चुनौतियां और गांधी की शिक्षा दृष्टि' विषय पर सर्व सेवा संघ के पूर्व अध्यक्ष और संप्रति नई तालीम के अध्यक्ष डॉ. सुगन बरंठ ने गांधी जी की बुनियादी शिक्षा के विचार को विस्तार से रखा। उन्होंने बताया कि बच्चों का सर्वांगीण विकास और समाज का सम्यक विकास बुनियादी तालीम के माध्यम से ही संभव है। सत्यप्रकाश भारत ने वर्तमान शिक्षा को शोषणकारी, अन्याय, अनैतिक और अव्यवस्था फैलाने वाली बताया। शिक्षा सत्र में डॉ. सत्यव्रत, वीरेन्द्र विक्रम, शुभा, अरवन्दि सिंह कुशवाहा, पुतुल, ईश्वरचन्द, निहाल गांधी, डॉ. बजरंग सोनावणे, डॉ. दीप्ति आदि कई वक्ताओं ने अपने विचार रखे।

गांधी जी की आर्थिक दृष्टि पर चर्चा करते हुए इस सत्र के मुख्य वक्ता महाराष्ट्र से पधारे डॉ. प्रदीप खेलूलकर ने विस्तृत व सारगर्भित व्याख्यान दिया। उन्होंने कई कंपनियों का उदाहरण देकर समझाया कि ये कारपोरेट कंपनियां कैसे आम जनता को लूटती हैं। आधुनिक टेक्नोलॉजी, उदारीकरण, रोबोटीकरण से बेरोजगारी किस तरह बढ़ रही है। युवाओं में निराशा और कुंठा बढ़ रही है। विकल्प के रूप में उन्होंने ग्रामीण हस्त व लघु उद्योगों को महत्त्वपूर्ण बताया। इस सत्र में शिविर में आये युवा साथियों रजनीकांत, विवेक सिंह, अमन, आयुष, मुदित, आकाश, अभिषेक, सुशीला आदि ने अपने विचार रखे और समाधान भी सुझाया।

गांधीजी की नैतिक व राजनीतिक दृष्टि पर चर्चा करते हुए काशी विद्यापीठ के डॉ. सतीश राय ने विस्तार से अपने विचार प्रकट किये। उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन के अनेक प्रसंगों का जिक्र किया और बताया कि बिना नैतिकता के राजनीति निष्प्राण है। सर्व सेवा संघ के पूर्व अध्यक्ष अमरनाथ भाई ने कारपोरेट घरानों के काले कारनामों को उजागर किया। गांधी स्मारक निधि के राष्ट्रीय अध्यक्ष रामचन्द्र राही ने वर्तमान राजनीति को विभेदकारी और सांप्रदायिक निरुपित किया। पटना से आये एस. एन. सिंह इंस्टीट्यूट के डायरेक्टर डॉ. दिवाकर ने राजनीति और औद्योगिक घरानों के सांठगांठ को बहुत अच्छी तरह समझाया। एक एक आंकड़े देकर विकास के छलावे और भ्रम को भी दूर कर दिया। शिविर में आये युवाओं के सवालों का भी उन्होंने बखूबी और संतोषकारी उत्तर दिया। इस सत्र में युवाओं ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। इस सत्र का संचालन जागृति राही ने किया। संजीव सिंह, सत्यप्रकाश आजाद, कमलेश यादव, जावेद, निहाल गांधी, रामजनम, आर.एस. राय, विनोद जायसवाल, सौरभ सिंह आदि ने अपने विचार व्यक्त किये।

19 फरवरी को पांचवें सत्र में 'सांप्रदायिकता एवं नस्लवाद की समस्या' पर कानपुर से आये चर्चित दलित सामाजिक कार्यकर्ता श्रीदेव कुमार ने दलितों के साथ हो रहे अन्याय को बड़ी शालीनता और दर्द के साथ रखा। उन्होंने अपने वक्तव्य में दलितों के सम्मान व उत्थान के लिए गांधी जी द्वारा किये गये कार्यों की सराहना की। उन्होंने जातिवाद व नस्लवाद की समस्या के समाधान के लिए एक शोध संस्थान शुरू करने व दलितों के सम्मान के लिए सतत कार्यक्रम करते रहने का संकल्प जताया। उन्होंने अपनी नई किताब 'हरिजनिया गांधी' का भी उल्लेख किया, जिसमें उन्होंने दलितों की समस्याओं और गांधी-आंबेडकर के प्रयासों का विस्तृत ब्यौरा दिया है। इस सत्र की अध्यक्षता कर रहे सर्व सेवा संघ प्रकाशन के संयोजक अरविन्द अंजुम ने कहा कि आज से 60-70 हजार साल पहले कोई जाति और धर्म नहीं था। इस सत्र में शुभा प्रेम, जागृति राही, कमलेश यादव, विपिन राजपूत, धर्मेन्द्र, रजनीया, आदर्श, सोनू सिंह, राजेन्द्र सिंह, ईश्वरचन्द, डॉ. राजेश तोमर आदि ने अपने विचार रखे।

छठवें सत्र में 'आधी आबादी की दशा और गांधी जी की नारी दृष्टि' पर चर्चा हुई। इस सत्र में पुतुल, जागृति राही, शुभा प्रेम, डॉ. गीता शर्मा ने स्त्री-पुरुष समानता, घरेलू हिंसा और यौन उत्पीड़न के सवाल को उठाया। प्रशासनिक अधिकारी और गांधी के शराबबंदी के मुद्दे पर सक्रियता से लगे हुए मदनमोहन वर्मा ने कहा कि सबसे अधिक हिंसा और उत्पीड़न महिलाओं के साथ शराब पीकर किया जाता है। इसलिए गांधी जी शराब को सबसे बड़ी बुराई मानते थे। इस सत्र की अध्यक्षता गांधीवादी सामाजिक कार्यकत्री पुतुल ने किया। इस सत्र में शिवानी, संजना, सोनाक्षी, मौसमी, सुहानी, संस्कृति आदि ने अपने विचार प्रकट किये।

20 फरवरी को शिविर का समापन हुआ। समापन सत्र में बतौर मुख्य वक्ता डॉ. राकेश रफीक ने अपना वक्तव्य रखा। उन्होंने किसानों के सवाल को प्रमुखता से उठाया। साथ ही गांधी जी के विषय में उठने वाले सवालों—गांधी और भगत सिंह, गांधी-आंबेडकर और गांधी-सुभाष—का भी सिलसिलेवार जवाब दिया।

शिविर में आये युवा साथियों ने अपने-अपने अनुभवों को बताते हुए स्वीकार किया कि इस शिविर से हमारे सोच और व्यक्तिगत जीवन में बहुत बदलाव आया है। आगे भी इस तरह के शिविर होंगे तो हम अवश्य भाग लेंगे। शिविर का संचालन मुम्बई से आये प्रशिक्षक डॉ. बजरंग सोनावने, डॉ. दीप्ति व अरविन्द भाई ने बखूबी किया।

वरिष्ठ पत्रकार रामदत्त त्रिपाठी, अरुण कुमार त्रिपाठी, रघु ठाकुर, डॉ. कमालुद्दीन शेख, डॉ विश्वनाथ मिश्र आदि कई वक्ता स्वास्थ्य व अन्य कारणों से नहीं आ पाये। -स.ज.डेस्क

गांधी ने उस फौजी अभियान का समर्थन किया था

❑ कुमार प्रशांत

आज़ादी दरवाज़े पर खड़ी थी लेकिन दरवाज़ा अभी बंद था. जवाहरलाल और सरदार पटेल रियासतों के एकीकरण की योजना बनाने में जुटे थे. रियासतें किस्म-किस्म की चालों और शर्तों के साथ भारत में विलय की बातें कर रही थीं. जितनी रियासतें, उतनी चालें. दूसरी तरफ़ एक और चाल थी जो साम्राज्यवादी ताक़तें चल रही थीं. इसकी बागडोर इंग्लैंड के हाथ से निकलकर अब अमरीका की तरफ़ जा रही थी. इन ताक़तों का सारा ध्यान इस पर था कि भागते भूत की लंगोटी का वो कौन सा सिरा अपने हाथ में रहे, जिससे एशिया की राजनीति में अपनी दख़लंदाज़ी बनाए रखने और आज़ाद होने जा रहे भारत पर नज़र रखने में सहूलियत हो.

पाकिस्तान तो बन ही रहा था, कश्मीर भी इस रणनीति के लिए मुफ़ीद था. 1881 से लगातार साम्राज्यवाद इसके जाल बुन रहा था. अब इसके दस्तावेज़ मिलने लगे हैं. कश्मीर इसलिए महत्वपूर्ण हो गया था. वहां के नौजवान नेता शेख़ मोहम्मद अब्दुल्लाह राजशाही के खिलाफ़ लड़ रहे थे और कांग्रेस के साथ थे. वे जवाहरलाल के निकट थे. स्थानीय आंदोलन की वजह से महाराजा हरि सिंह ने उन्हें जेल में डाल दिया तो नाराज़ जवाहरलाल उसका प्रतिकार करने कश्मीर पहुंचे थे. राजा ने उन्हें भी उनके ही गेस्टहाउस में नज़रबंद कर दिया था. इस तरह महाराजा के लिए जवाहरलाल भड़काऊ लाल झंडा बन गये थे.

अब, जब विभाजन और आज़ादी दोनों ही आ गई थी तो वहां कौन जाए कि जो मरहम का भी काम करे और विवेक भी जगाए? माउंटबेटन साहब ने प्रस्ताव रखा—क्या हम बापूजी से वहां जाने का अनुरोध कर सकते हैं? महात्मा गांधी कश्मीर कभी नहीं जा सके थे. जब-जब योजना बनी, किसी-न-किसी कारण अटक गई. जिन्ना साहब भी एक बार ही कश्मीर गये थे, तब टमाटर और अंडों से उनका स्वागत हुआ था. गुस्सा यूं था कि यह ज़मींदारों व रियासत के पिट्ठू हैं.

प्रस्ताव माउंटबेटन का था, जवाब गांधी से आना था. अब उम्र 77 साल थी. सफ़र मुश्किल था लेकिन देश का सवाल था तो गांधी के लिए मुश्किल कैसी? वे यह भी जानते थे कि आज़ाद भारत का भौगोलिक नक्शा मज़बूत नहीं बना तो रियासतें आगे नासूर बन जाएंगी. वे जाने को तैयार हो गये. किसी ने कहा, इतनी मुश्किल यात्रा क्या ज़रूरी है? आप महाराजा को पत्र लिख सकते हैं. कहने वाले की आंखों में देखते हुए वे बोले, 'हां, फिर तो मुझे नोआखली जाने की भी क्या ज़रूरत थी? वहां भी पत्र भेज सकता था. लेकिन भाई उससे काम नहीं बनता है.'

आज़ादी से मात्र 14 दिन पहले, रावलपिंडी के दुर्गम रास्ते से महात्मा गांधी पहली और आखिरी बार कश्मीर पहुंचे. जाने से पहले 29 जुलाई 1947 की प्रार्थना सभा में उन्होंने ख़ुद ही बताया कि वे कश्मीर जा रहे हैं. उन्होंने कहा, 'मैं यह समझाने नहीं जा रहा हूं कि कश्मीर को भारत में रहना चाहिए. वह फ़ैसला तो मैं या महाराजा नहीं, कश्मीर के लोग करेंगे. कश्मीर में महाराजा भी हैं, रैयत भी है. लेकिन राजा कल मर जाएगा तो भी प्रजा तो रहेगी. वह अपने कश्मीर का फ़ैसला करेगी.'

1 अगस्त, 1947 को महात्मा गांधी कश्मीर पहुंचे. तब के वर्षों में घाटी में लोगों का वैसा जमावड़ा देखा नहीं गया था, जैसा उस रोज़ जमा हुआ था. झेलम नदी के पुल पर तिल धरने की जगह नहीं थी. गांधी की गाड़ी पुल से हो कर श्रीनगर में प्रवेश कर ही नहीं सकती थी. उन्हें गाड़ी से निकाल कर नाव में बिठाया गया और नदी के रास्ते शहर में लाया गया. दूर-दूर से आए कश्मीरी लोग यहां-वहां से उनकी झलक देख कर तृप्त हो रहे थे और कह रहे थे, 'बस, पीर के दर्शन हो गए!' शेख़ अब्दुल्लाह तब जेल में थे. बापू का एक स्वागत महाराजा ने अपने महल में आयोजित किया था तो नागरिक स्वागत का दूसरा आयोजन बेगम अकबरजहां अब्दुल्लाह ने किया था. महाराजा हरि सिंह, महारानी तारा देवी तथा राजकुमार कर्ण सिंह ने महल से बाहर आकर उनकी अगवानी की थी. उनकी बातचीत का कोई ख़ास पता तो नहीं है लेकिन बापू ने बेगम अकबरजहां के स्वागत समारोह में खुलकर बात कही.

उन्होंने कहा, 'इस रियासत की असली राजा तो यहां की प्रजा है. वह पाकिस्तान जाने का फ़ैसला करे तो दुनिया की कोई ताक़त उसे रोक नहीं सकती है. लेकिन जनता की राय भी कैसे लेंगे आप? उसकी राय लेने के लिए वातावरण तो बनाना होगा न. वह आराम और आज़ादी से अपनी राय दे सके, ऐसा कश्मीर बनाना होगा. उस पर हमला कर, उसके गांव-घर जला कर आप उसकी राय तो ले नहीं सकते हैं. प्रजा कहे कि भले हम मुसलमान हैं लेकिन रहना चाहते हैं भारत में तो भी कोई ताक़त उसे रोक नहीं सकती है. अगर पाकिस्तानी यहां घुसते हैं तो पाक की हुकूमत को उनको रोकना चाहिए. नहीं रोकती है तो उस पर इल्ज़ाम तो आएगा ही.'

बापू ने फिर भारत की स्थिति साफ़ की. उन्होंने कहा, 'कांग्रेस हमेशा ही राजतंत्र के खिलाफ़ रही है. फिर चाहे वह इंग्लैंड का हो या यहां का. शेख़ अब्दुल्लाह लोकशाही की बात करते हैं, उसकी लड़ाई लड़ते हैं. हम उनके साथ हैं. उन्हें जेल से छोड़ना चाहिए और उनसे बात कर आगे का रास्ता निकालना चाहिए. कश्मीर के बारे में फ़ैसला तो यहां के लोग करेंगे.'

फिर गांधीजी यह भी साफ़ करते हैं कि 'यहां के लोग' से उनका मतलब क्या है. उन्होंने कहा, 'यहां के लोगों से मेरा मतलब है यहां के मुसलमान, यहां के हिंदू, कश्मीरी पंडित, डोगरा लोग और यहां के सिख.' कश्मीर के बारे में भारत की यह पहली घोषित आधिकारिक भूमिका थी. गांधीजी सरकार के प्रवक्ता नहीं थे, क्योंकि स्वतंत्र भारत की सरकार अभी औपचारिक रूप से बनी नहीं थी. लेकिन वे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के मूल्यों के जनक और स्वतंत्र भारत की भूमिका के सबसे बड़े आधिकारिक प्रवक्ता थे, इससे कोई इनकार भी कैसे कर सकता था?

गांधीजी के इस दौरे ने कश्मीर को विश्वास की ऐसी डोर से बांध दिया कि जिसका नतीजा शेख़ अब्दुल्लाह की रिहाई में, भारत के साथ रहने की उनकी घोषणा में, कश्मीरी मुसलमानों में घूम-घूम कर उन्हें पाकिस्तान से अलग करने के अभियान में दिखाई पड़ा. जवाहरलाल-सरदार पटेल-शेख़ अब्दुल्लाह की त्रिमूर्ति को गांधीजी का आधार मिला और आगे कि वह कहानी लिखी गई, जिसे आज की सरकार रगड़-पोंछकर मिटाने में लगी है. जिन्होंने बनाने में कुछ नहीं किया, वे मिटाने के उत्तराधिकार की घोषणा कर रहे हैं!

हमें यह भी याद रखना चाहिए कि जब फ़ौजी ताक़त के बल पर पाकिस्तान ने कश्मीर हड़पना चाहा था और भारत सरकार ने उसका फ़ौजी सामना किया था तब महात्मा गांधी ने उस फ़ौजी अभियान का समर्थन किया था. ❑

जब हिंदू चाय और मुस्लिम चाय की कहानी सुन बेचैन हो गए गांधी

❑ मधुकर उपाध्याय

ये किस्सा 1909 का है, जब महात्मा गांधी अपनी चर्चित किताब 'हिंद स्वराज' लिख रहे थे. उस समय पोरबंदर, राजकोट, मुंबई और उन जगहों पर एक कहावत प्रचलित थी, जहां गांधी कभी रहे थे. कहावत थी कि मियां और महादेव की नहीं बनती, बन ही नहीं सकती, दोनों में बहुत फ़र्क है.

महात्मा गांधी को ये बात बिल्कुल भी समझ नहीं आती थी कि ये कहावत किस आधार पर बनी है और इस तरह से क्यों कही जाती है. क्योंकि उनका पूरा जीवन और बचपन के तमाम दोस्त ऐसे ही थे. इनमें शेख़ महताब भी थे, जिनके साथ वे खेलते भी और जिन्होंने गांधी को गोश्त खिलाया था, बल्कि साल भर खिलाते रहे थे.

जब गांधी की पहली नौकरी लगी तो दक्षिण अफ्रीका में उन्हें नौकरी देने वाले दादा अब्दुल्ला थे। जब वे लौटकर भारत आए और डांडी मार्च के समय जिस आदमी को तय किया कि उनकी गिरफ्तारी के बाद इस मार्च का नेतृत्व करेगा, वे अब्बास तैयब जी थे.

इसीलिए गांधी को ये नहीं समझ आता था कि ये मुहावरा क्यों बना, कैसे बना और क्यों लोगों में प्रचलित है. इसकी कोई वजह उन्हें दिखाई नहीं देती थी.

द्विराष्ट्र सिद्धांत पर गांधी का जवाब

जब उनसे पूछा कि मुस्लिम लीग की टू नेशन थियरी (द्विराष्ट्र सिद्धांत) पर आपका क्या कहना है? तो उनका था कि 'ये बिल्कुल ग़लत है. इस देश में टू नेशन थियरी हो ही नहीं सकती है और अगर हो सकती है तो थ्री, फ़ोर फ़ाइव नेशन थियरी क्यों नहीं है. ईसाई कहां जाएंगें, जैनी का क्या होगा, बौद्धों का क्या करेंगे आप. अगर धर्म ही आधार है तो इनका क्या होगा, इन धर्मों ने कौन सा गुनाह किया है. ये हो ही नहीं सकता, ये संभव नहीं है.'

वे चाहते थे कि सब लोग साथ रहें, जब तक वे साथ नहीं रहेंगे, जब तक साम्प्रदायिक एकता नहीं होगी, तब तक भारत को आज़ादी नहीं मिल सकती. उस समय भारत के वायसराय वॉवेल थे और जब गांधी की उनसे तब के कलकत्ता में मुलाक़ात हुई तो उन्होंने कहा कि 'हम जिस हाल में हैं, हमें छोड़ दीजिए. हमें छोड़ कर चले जाइए। हम अपने फ़ैसले, अपनी समस्याएं खुद हल कर लेंगे. क्योंकि आप रहेंगे तो आग में घी डालने का काम करते रहेंगे.' उन्होंने लगभग इन्हीं शब्दों में वॉवेल से कह दिया कि आपकी ज़रूरत नहीं है क्योंकि आपके रहते हिंदू मुसलमान एकता हो ही नहीं सकती।

ये और बात थी कि द्विराष्ट्र सिद्धांत जैसा भी हो, पाकिस्तान बाद में बना. यहां से तमाम लोग गए और इसके बाद जो हिंसा हुई, उसे रोकने के लिए महात्मा गांधी की सोहरावर्दी के साथ बैठकें करने और उनके यहां ठहरने पर बाद में भी सवाल उठाया जाता रहा. लेकिन गांधी का कहना था, 'हिंदू मुसलमान फसाद की जड़ कितनी गहरी है, उसका थोड़ा अंदाज़ा दक्षिण अफ्रीका में हुआ था, लेकिन ज्यादा पता हिंदुस्तान आकर लगा.'

साल 1915 में हरिद्वार में कुंभ लगा था और गांधी कुंभ मेले में जा रहे थे. रास्ते में जब ट्रेन सहारनपुर रुकी तो उन्होंने देखा कि लोग पसीना-पसीना हैं, गला सूख रहा है, पानी नहीं है, लेकिन अगर पानी पिलाने वाला आता था और उन्हें पता चल जाए कि वे मुसलमान है तो वे पानी नहीं पीते थे. वे हिंदू पानी का इंतज़ार करते थे, मुसलमान पानी नहीं पी सकते थे, जान भले ही चली जाए.

बहुत समय तक गांधी को ये बात सालती रही कि अगर डॉक्टर मुसलमान हो और वे आपको दवा दे तो ले लेंगे लेकिन उसके हाथ का पानी नहीं पिएंगे, इसका मतलब है कि समस्या समाज में है, आपके अंदर है, उससे इसका कोई मतलब नहीं है कि आप हिंदू हैं या मुसलमान हैं.

आज़ाद हिंद फ़ौज के तमाम लोग जब गिरफ्तार हुए और उनपर मुकदमा चलने वाला था और सारे लोग लाल किले में बंद थे, तो गांधी उनसे मिलने गए. गांधी ने पाया कि उन्होंने कलकत्ता में वॉवेल से जो बात कही थी कि आपके रहते एकता नहीं हो सकती, वह कितनी सच थी. आज़ाद हिंद फ़ौज के लोगों ने गांधी को बताया कि यहां सुबह हांक लगती है कि हिंदू चाय तैयार है और मुसलमान चाय अभी आने वाली है. तो उन्होंने सिपाहियों से पूछा कि आप करते क्या हैं? उनका जवाब था कि 'ये लोग हमको रोज़ सुबह बांटते हैं, जबकि हमारे अंदर कोई भी मंशा नहीं होती, हमारे बीच कोई झगड़ा नहीं है, लेकिन सरकार का हुक्म है कि हिंदू चाय अलग बने और मुसलमान चाय अलग बने. तो गांधी ने पूछा कि आप क्या करते हैं अगर हिंदू चाय और मुसलमान चाय अलग अलग दी जाती है?

उनका कहना था कि हमने एक बड़ा सा बर्तन रखा है और उसमें हिंदू चाय और मुसलमान चाय मिला देते हैं और फिर बांट के पी लेते हैं.

महात्मा गांधी ने सुभाष चंद्र बोस के काम करने के ढंग की, हिंसा पर जो उनका भरोसा था उस पर, फ़ौज के गठन और फ़ौज के ज़रिए आज़ादी हासिल करने की कोशिश की कई बार आलोचना की थी. लेकिन लाल किले से लौटने के बाद गांधी ने साफ़ साफ़ शब्दों में कहा कि सुभाष चंद्र बोस एक राष्ट्रवादी नेता हैं और उनका सबसे बड़ा योगदान एक पूरा संगठन खड़ा करना और उसमें हिंदू मुसलमान का भेद मिटा देना है और इसके लिए मैं उन्हें सलाम करता हूं. ❑

दुनिया वालों से कह दो कि गांधी अंग्रेजी नहीं जानता

❑ कृष्णकांत

गोडसे प्रेमी यह कहते पाये जाते हैं कि गांधी के कारण देश का बंटवारा हुआ। इस तर्क से गांधी की हत्या तक को जायज ठहराया जाता है। एक गिरोह 70 साल से यह झूठ फैला रहा है।

7 मई, 1947 को कांग्रेस ने फैसला किया कि बंटवारे की मांग मान ली जाये। इसी शाम को गांधी ने कहा, 'जिन्ना पाकिस्तान चाहते हैं। कांग्रेस भी तैयार हो गयी है। लेकिन मुझे मंजूर नहीं है। मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता। मैं इसमें शरीक नहीं हो सकता।'

इसी शाम को गांधी कहते हैं कि 'मैं हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई सबका ट्रस्टी हूं। मैं पाकिस्तान बनने में हाथ नहीं बंटा सकता।'

गांधी का तर्क था कि 'पांडवों को जीत कर भी कुछ नहीं मिला। आखिर उनको स्वर्गारोहण करना पड़ा। भाइयों की लड़ाई में कोई नहीं जीतता है।'

3 जून को औपचारिक रूप से कांग्रेस ने बंटवारा स्वीकार कर लिया। इस स्वीकृति के पहले तक गांधी कह रहे थे कि 'देश का बंटवारा मेरी लाश पर होगा।' इसके अगले दिन गांधी ने इसे स्वीकार तो किया लेकिन कहा कि 'मैं इस फैसले को गलत मानता हूं, और लोग भी इसे गलत मानें तो इसे सुधारा जा सकता है।' उन्होंने कहा कि 'मैंने बहुत समझाया पर लीग वालों को कुछ और समझ में ही नहीं आ रहा है। वे कहते हैं कि वहां रह ही नहीं सकते, जहां ज्यादा हिन्दू हों। लेकिन इस सोच से देश का नुकसान होगा। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वह भारत को इस नुकसान से बचा ले।'

गांधी कहते हैं कि 'बंटवारा तो लीग ने मांगा, कांग्रेस ने तो मांगा नहीं था। लेकिन हिन्दू भी और खालसा भी यही चाहते हैं।' वे कहते हैं कि 'मेरी बात न हिन्दू सुन रहे हैं न मुसलमान सुन रहे हैं। मैं कांग्रेस से भी अपनी बात नहीं मनवा सकता। जब बहुमत मुझे नहीं सुन रहा है तो भलाई इसी में है कि सब शांति से हो और दोनों एक दूसरे के दुश्मन न बन

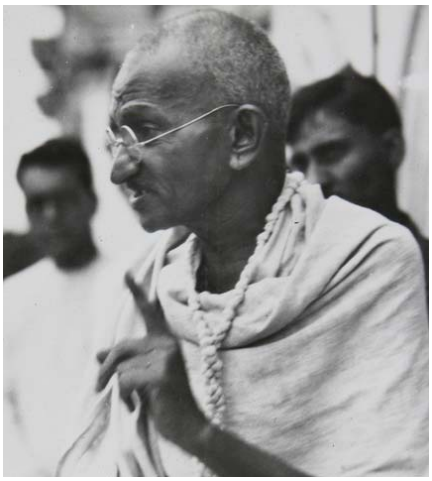

जायें। जब गांधी बंटवारा नहीं रोक पाये तब वे भारत और पाकिस्तान के बीच शांति बहाली के प्रयास में जुट गये कि लड़ो मत, वरना मिट जाओगे। सुख से रहो।

गांधी की शांति-बहाली की कोशिश पर कट्टर हिन्दू कहने लगे कि गांधी मुसलमानों का पक्ष ले रहे हैं। कट्टर हिन्दुओं के दिमाग में एक बात तब से आज तक कोहराम मचा रही है कि जब बंटवारा हुआ, तब दोनों तरफ सफाई होनी चाहिए थी, गांधी इसके विरोध में थे।

गांधी का तर्क था कि आपस में लड़ोगे तो जिन्ना की यह बात सही हो जायेगी कि हिन्दू और मुस्लिम दो राष्ट्र हैं, वे एक साथ नहीं रह सकते हैं। हिन्दू राष्ट्र वालों की असल समस्या यही थी, क्योंकि वे खुद द्विराष्ट्र का सिद्धांत मानते हैं। इनकी शिकायत जिन्ना की नफरत से नहीं थी, इनकी शिकायत गांधी के भाईचारे से थी।

गांधी दोनों धर्मों के कट्टरपंथी लोगों के इस विश्वास को पलीता लगाने में जुटे थे कि द्विराष्ट्रवाद भारत की समस्या का समाधान है। इसलिए दोनों तरफ के कट्टरपंथी गांधी के विरोध में थे। जब बंटवारे के साथ देश आजाद हो गया और जश्न मनाया जाने लगा तब गांधी ने कहा, मैं खुशी नहीं मना सकता। वे पागल हो चुके हिन्दू मुसलमानों को समझाने नोआखाली चले गये।

हिन्दुस्तान टाइम्स ने गांधी से आजादी पर प्रतिक्रिया मांगी तो गांधी जी ने कहा, 'वे अंदर से खालीपन महसूस कर रहे हैं।' बीबीसी ने प्रतिक्रिया मांगी तो गांधी ने मना कर दिया। पत्रकार ने जिद की कि आपका बयान अनुवाद होकर पूरी दुनिया में छपेगा। तब गांधी ने कहा, 'दुनिया वालों से कह दो कि गांधी अंग्रेजी नहीं जानता।' भारत और पाकिस्तान के हुक्मरान जश्न मना रहे थे और गांधी सत्ता को लात मारकर लोगों को मनुष्य होना सिखा रहे थे।

गांधी को मारने वालों की यही असली समस्या थी। गांधी ने खुद कहा कि यह प्रेम और नफरत की लड़ाई का मामला है। प्रेम ने अपशब्द तक इस्तेमाल नहीं किया और नफरत ने हत्या तक कर दी। यह नफरत आज भी गांधी के नाम तक से बौखला उठती है और अफवाहें फैलाती है।

गांधी को लेकर अफवाह फैलाने के लिए 70 साल अथक मेहनत की गयी है। गांधी ने बंटवारा चाहा या कराया, इससे ज्यादा इस बात के सबूत हैं कि वे अंत समय तक बंटवारे का विरोध करते रहे। हां, जैसे आज लोगों को शांति, प्रेम, भाईचारा की बातें काटती हैं और नफरत लुभाती है, ऐसे ही तब भी था।

इतिहास के पन्नों की यह तहरीर तो पूरी दुनिया पढ़ चुकी है कि जब जिन्ना और नेहरू अपनी अपनी कुर्सी संभाल रहे थे, तब मानवता का पुजारी नितांत अकेला था, अपनी उस लाठी के साथ, जो कभी किसी पर उठी नहीं, सिर्फ सहारा देती रही।

गांधी पर बंटवारे का दोष मढ़ने वाले लोग जिन्ना के चेले हैं, जो पाकिस्तान बनाने वाले जिन्ना पर नहीं, गांधी पर बरसते हैं। जिसने विरोध किया, वह दोषी और जिसने बंटवारा कराया उस पर मौन!

मेरा मानना है कि गांधी से असहमत तो कोई भी हो सकता है, लेकिन अगर कोई गांधी से नफरत करता है तो मुझे उनके मनुष्य होने पर संदेह है। ❑

महात्मा गांधी और आंबेडकर ने हेडगेवार के साथ बातचीत क्यों नहीं की

❑ दिलीप मंडल

मोहनदास करमचंद गांधी, केशव बलिराम हेडगेवार और बी.आर. आंबेडकर तीनों की जीवन यात्राओं में ऐसा साझा समय काफी है, जब वे एक साथ सक्रिय थे. तीनों का शुरुआती कार्यक्षेत्र अविभाजित मुंबई स्टेट था. माना जा सकता है कि तीनों को एक दूसरे के बारे में मालूम था और एक दूसरे और तीसरे के विचारों से वे वाकिफ रहे होंगे.

दक्षिण अफ्रीका से लौटकर गांधी ने कांग्रेस की कमान संभाल ली थी और 1920 में शुरू हुए असहयोग आंदोलन के बाद उनकी राष्ट्रीय नेता की छवि बन चुकी थी. आंबेडकर ने उससे तीन साल पहले 1917 में भारतीय जाति व्यवस्था पर अपनी पहली थीसिस कोलंबिया यूनिवर्सिटी में पेश करके छपवा ली थी. 1925 आते-आते वे डिप्रेस्ड क्लासेस यानी उस समय अछूत कहे जाने वालों की आवाज़ के तौर पर स्थापित हो चुके थे. इसी नाते 1932 में सेकेंड राउंड टेबल कॉन्फ्रेंस में उन्हें गांधी के साथ लंदन आमंत्रित किया गया था. हेडगेवार ने कांग्रेस को अलविदा कहकर 1925 में ही आरएसएस का गठन कर लिया था. उनकी मौत 1940 में हुई.

गांधी, आम्बेडकर और हेडगेवार में अबोलापन

भारत के इतिहास में कम से कम 15 साल का समय ऐसा है, जब गांधी, आंबेडकर और हेडगेवार साथ-साथ सक्रिय थे. ये एक दिलचस्प तथ्य है कि जहां गांधी और आंबेडकर एक दूसरे के साथ तमाम असहमतियों के बावजूद लगातार संवाद में थे और एक दूसरे के विचारों से सहमत-असहमत हो रहे थे, वहीं इन दोनों नेताओं ने हेडगेवार के साथ कोई संवाद नहीं किया. गांधी और हेडगेवार के बीच सिर्फ एक मुलाकात हुई, लेकिन सहमति का कोई बिंदु बन नहीं पाया. गांधी ने हेडगेवार को हिंसा छोड़ने की नसीहत दी थी, जिस पर हेडगेवार ने कहा कि उनका संगठन हिंसा नहीं करता.

यह दिलचस्प है कि बीजेपी और उसका पितृ संगठन आरएसएस आज गांधी की बात करता है और उनकी विरासत में अपने लिए एक कोना तलाश रहा है. लेकिन गांधी के जीते जी इस साम्य या साझा यात्रा की कहीं कोई गुंजाइश नहीं थी. बल्कि गांधी की हत्या में जिस विचारधारा से प्रभावित युवक शामिल थे, वे वही विचारधारा है, जिसे आरएसएस ने आगे बढ़ाया. ये भी रोचक है कि गांधी के तमाम विचारों में से बीजेपी-आरएसएस ने सिर्फ स्वच्छता को चुना है और गांधी को लगभग सफाई कर्मचारी बना दिया है. उदारवादी लोकतंत्र, सर्वधर्म समभाव (जिसे भारत में धर्मनिरपेक्षता कहा जाता है), अहिंसा, ग्राम स्वराज, नैतिकता जैसे गांधीवादी मूल्यों की बात करने से भी बीजेपी कतराती है.

हिंदू राष्ट्र के विचारों से टकराते आंबेडकर

हेडगेवार, गोलवलकर और सावरकर एक बार आंबेडकर से मिलने जरूर गए थे, लेकिन आंबेडकर अपने लाखों शब्दों के भाषण और लेखन के 21 खंडों में संकलित रचनाओं में कहीं हेडगेवार का जिक्र भी नहीं करते हैं. यह इस बात का प्रमाण है कि आंबेडकर जिस लक्ष्य के लिए जुटे थे, उसमें हेडगेवार, उनके विचार और उनका संगठन बिल्कुल अप्रासंगिक है. लेकिन यही बात गांधी के बारे में नहीं कही जा सकती, जिनसे आंबेडकर बार-बार संवाद करते हैं.

जहां तक आंबेडकर की बात है तो उनका ऐतिहासिक प्रोजेक्ट भारत में सामाजिक-आर्थिक भेदभाव रहित सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना था, जिसका आरएसएस की हिंदू राष्ट्र की अवधारणा से कोई मेल ही नहीं था. आंबेडकर अपनी किताब पाकिस्तान एंड पार्टीशन ऑफ इंडिया (1945) में साफ लिखते हैं कि- 'अगर हिंदू राष्ट्र बनता है तो ये इस देश के लिए सबसे बड़ी आपदा होगी. हिंदू चाहें जो भी कहें, हिंदूवाद स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का दुश्मन है. हिंदू राष्ट्र को हर कीमत पर रोकना होगा.'

गांधी और आंबेडकर में समानता और द्वंद्व

जिस समय आंबेडकर जाति मुक्ति की अवधारणा पर काम कर रहे थे, उस समय गांधी भारत की राजनीतिक आजादी को सबसे महत्वपूर्ण मानकर स्वतंत्रता संग्राम में जुटे थे. उनका मानना था कि भारतीय समाज के आपसी अंतर्विरोधों को आजादी के बाद हल किया जा सकता है. छुआछूत को वे हिंदू समाज का अपराध मानते थे और इसका पश्चाताप करने के लिए उन्होंने अपना मैला खुद उठाने की परंपरा शुरू करने की कोशिश की. हालांकि भारतीय समाज इसके लिए तैयार नहीं था.

लेकिन एक बात ध्यान रखने योग्य है कि आंबेडकर और गांधी, दोनों के बीच लगातार संवाद होता है. दोनों एक दूसरे से टकराते हैं, पर बातचीत जारी रखते हैं. राउंड टेबल कॉन्फ्रेंस और पूना पैक्ट से शुरू हुई उनकी बातचीत एनिहिलेशन ऑफ कास्ट में जारी रहती है और आजादी के बाद भी संविधान सभा में बाबा साहेब की हिस्सेदारी तक उसमें कभी व्यवधान नहीं आता. नेहरू कैबिनेट में बाबा साहेब का शामिल होना भी गांधी की सहमति के बिना संभव नहीं था.

दो छोर पर गांधी और हेडगेवार

वहीं, गांधी और हेडगेवार दो अलग छोर पर नजर आते हैं. इसका ऐतिहासिक सूत्र तिलकवाद बनाम राणाडे-गोखलेवाद में है. बाल गंगाधर तिलक भारत का प्राचीन गौरव फिर से हासिल करना चाहते थे, जिसमें ब्राह्मणों के नेतृत्व में समाज का संचालन होना था. वे मराठी में अपने संपादकीय में लिखते हैं कि अगर अंग्रेज न आते तो पूरे भारत पर पेशवा का राज होता. गौरवशाली भारत के लिए वे बार-बार पीछे मुड़कर देखते हैं.

इसलिए तिलक समाज सुधार की हर कोशिश के खिलाफ खड़े होते हैं. वे अछूतों और पिछड़ी तथा किसान जातियों को राजकाज में हिस्सेदार बनाए जाने के विरोधी हैं. वे अंतर्जातीय विवाह के विरोधी हैं. वे महिलाओं को आजादी देने के खिलाफ हैं. कसेंट ऑफ सेक्स की उम्र बढ़ाए जाने के खिलाफ वे आवाज उठाते हैं. इसके मुकाबले महादेव गोविंद राणाडे तथा गोपाल कृष्ण गोखले समाज सुधार के पक्षधर हैं. ये दोनों भी क्रांतिकारी नहीं हैं. वे वर्ण व्यवस्था का उन्मूलन भी नहीं चाहते, लेकिन वे सबको साथ मिलाकर चलने के विचार के समर्थक हैं. आदर्श समाज की अपनी कल्पना में वे तिलक की तरह बार-बार पीछे मुड़कर ग्रंथों की तरफ नहीं देखते. कांग्रेस के अंदर काम करते हुए दोनों ही समाज सुधार आंदोलन में शामिल रहे.

अपनी किताब 'गांधी, राणाडे और जिन्ना' में आंबेडकर दोनों धाराओं के बारे में लिखते हैं

कि–'उस समय का बौद्धिक वर्ग दो धाराओं में बंटा था. पहला वर्ग कट्टरवादी था, लेकिन अराजनैतिक था. दूसरा वर्ग अपने विचारों में आधुनिक था, लेकिन उसके लक्ष्य राजनैतिक थे. पहले वर्ग का नेतृत्व चिपलूणकर और तिलक कर रहे थे.' आंबेडकर की राय में ये दोनों धाराएं समाज सुधार के खिलाफ काम कर रही थीं क्योंकि दूसरी धारा राजनीतिक आजादी को ज्यादा महत्व देकर समाज सुधार के कार्यों को स्थगित करना चाहती थी. दूसरे वर्ग का नेतृत्व आगे चलकर गांधी के हाथ में आ गया, लेकिन उन्हें ज्यादा शिकायत पहली धारा से है, जो पुरातन विचारों के हिसाब से भारत बनाना चाह रही थी.

गांधी के आने के बाद से कांग्रेस के आंदोलन का इलीट चरित्र नष्ट हो जाता है और इसमें हर तरह के लोग जुड़ जाते हैं. तिलकवादियों को ये बात समझ में आ जाती है कि ऐसी कांग्रेस उनके काम की नहीं है. आरएसएस की स्थापना की जमीन यहीं पर तैयार होती है.

तिलकवादी धारा पर आगे बढ़ते हैं हेडगेवार

इतिहास के इसी बिंदु पर हेडगेवार कांग्रेस से अलग राह चुन लेते हैं और खुद को तिलक की धारा के साथ जोड़ लेते हैं. वे और सावरकर नहीं चाहते कि भारतीय समाज में ऐसा कोई बदलाव आए, जिसका नेतृत्व एक अब्राह्मण (गांधी) करें. इसी लक्ष्य के साथ हेडगेवार 1925 में आरएसएस बनाते हैं और इसका लक्ष्य हिंदुओं को संगठित करना होता है. इसके साथ ही आजादी की लड़ाई से हेडगेवार खुद को पूरी तरह अलग कर लेते हैं. आरएसएस का लक्ष्य अराजनैतिक रखना तिलक की धारा के मुताबिक ही था.

आजादी की लड़ाई में आंबेडकर भी शामिल नहीं हैं. लेकिन जहां हेडगेवार वर्ण व्यवस्था आधारित समाज बनाने में जुटते हैं, वहीं आंबेडकर जातिमुक्त भारत की कल्पना को साकार करने के अभियान का नेतृत्व करते हैं. गांधी दोनों के बीच खड़े हैं जो आजादी की लड़ाई को सफल बनाने में जुटे हैं.

गांधी और आंबेडकर दोनों समाज सुधार चाहते हैं. गांधी जो काम आजादी पाने के बाद करना चाहते हैं, वह काम आंबेडकर तत्काल किए जाने के पक्षधर हैं. इसलिए दोनों के बीच बातचीत चलती रहती है. दूसरी तरफ हेडगेवार समाज सुधार विरोधी हैं. इसलिए गांधी और आंबेडकर उनसे बातचीत करने की जरूरत ही महसूस नहीं करते. *(द प्रिंट)*

अहिंसा और अर्थशास्त्र

आर्थिक मानव खंड दर्शन का प्रतिनिधि है

❑ सुदर्शन आयंगार

लोकतंत्र से बहुत पहले, राजाओं के काल से ही भारत और पृथ्वी के अन्य भूभागों में राजनैतिक अर्थशास्त्र प्रचलित हो चुका था. इस अर्थशास्त्र में आत्मलक्षी धर्ममूल्य दिखाई तो पड़ते हैं परंतु अर्थ की सिद्धि के लिए व्यवहारकुशल व्यवस्था पर ही भार नज़र आता है. कौटिल्य की स्थापनाओं को थोड़ी गहराई से देखें तो पता चलता है कि शरीरधर्म के निभाव के लिए आर्थिक व्यवहार का तंत्र और उसका संचालन दंडनीति के आधार पर ही रहेगा पर उस दंडनीति में अन्य विद्याओं का समावेश भी होगा. इसकी मुख्य जवाबदेही राजा की और उसके बनाये अधिकारी वर्ग की होगी.

राजा अथवा शासक वर्ग भी अगर प्रमादी, शरीरप्रेमी व भोगी होगा तो वह प्रजा का भौतिक और आत्मिक कल्याण दोनों ही नहीं कर पायेगा. व्यक्ति के विकास के लिए बने नियम ही यमनियम हैं. इन यमनियमों में एक अहिंसा है. इस तरह कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा और प्रजा से यह अपेक्षा है कि वे अपने और दूसरों के सुचारु संचालन के लिए षडरिपु पर विजय पाने का निरंतर प्रयास करते रहेंगे और इस माध्यम से अहिंसा के मूल्य से जुडे रहेंगे. इतनी स्पष्टता आवश्यक है कि तंत्र संचालन के लिए दंडनीति का ही विधान है और राजकीय तथा सामाजिक व्यवहार संचालन में अहिंसा का होना अनिवार्य नहीं माना गया है, उल्टे दंडविधान में हिंसा अनिवार्य है. कौटिल्य के अर्थव्यवहार में अनीति करने पर अधिकतर तो मुद्राओं के स्वरूप में दंडविधान है पर कहीं कहीं हिंसक दंड का भी प्रावधान है. यानी कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समाज दर्शन में अहिंसा मूल्य के रूप में विद्यमान है चाहे वह परोक्ष तौर पर ही है.

हिन्दू धर्म के मूल मूल्यों से निर्मित हुए दो और धर्म हैं, जैन और बौद्ध धर्म। दोनों ही धर्मों में अर्थशास्त्र के बारे में विचारणा की गयी है. महावीर स्वामी के दर्शन में हिंसा और परिग्रह दोनों ही आत्मा और चेतना के विकास में बाधक हैं. इस तरह अहिंसा और अपरिग्रह ही महावीर स्वामी के आर्थिक व्यवहारों में नीति का बीज मंत्र है. महावीर कहते हैं कि मिल-बांटकर उपयोग करने से जो कतराता है, वह मोक्ष का भागीदार नहीं हो सकता। बौद्ध धर्म का मूल मूल्य करुणा है. इस मूल्य से निर्मलता प्रकट होती है. अन्य धर्म शास्त्रों की तुलना में बौद्ध धर्म में आर्थिक विचार दर्शन की चर्चा अधिक और ठोस हुई है, बुद्ध के उपदेश में सत्य की खोज अथवा आत्मखोज की ओर जाने के लिए आर्य अष्टांगिकमार्ग का विधान है. इन आठ मार्गों में से एक मनुष्य के आर्थिक व्यवहारों से सीधा संबंधित है.

बुद्ध के मूल उपदेश में मात्र इतना इंगित है कि किस तरह के आर्थिक व्यवहार वर्जित होने चाहिए. इस उपदेश के अनुसार कोई भी आजीविका या व्यवसाय जो किसी अन्य जीव को हानि अथवा पीड़ा पहुंचाये अथवा व्यक्ति के अन्तर को पतन की ओर ले जाये, वह नही करना चाहिए. आजीविका नेक, शांतिमय, तथा हानिरहित व्यवसायों द्वारा ही प्राप्त करनी चाहिए. भगवान बुद्ध ने पांच व्यवसायों को निषिद्ध माना था. वे थे, कसाई व मांस का व्यवसाय, विष का व्यापार, युद्ध के हथियारों का व्यवसाय, दास तथा गणिकाओं का व्यवसाय, और शराब व नशीली दवाओं तथा तत्वों का व्यवसाय. इनके साथ-साथ भगवान बुद्ध ने आडंबर, ठगी, छल-कपट और हर प्रकार के गोरख व्यवसायों को भी अपने अनुयायियों के लिए निषिद्ध बताया था. भारत के मूल धर्मों की तरह विश्व के अन्य धर्मों में भी अर्थव्यवस्थाओं में नीतिमत्ता की बात वजन देकर कही गयी है. सादगी और ईमानदारी से आजीविका चलाने के उपदेश इसाई और इस्लाम धर्मों में भी मिलते हैं.

अब बात गांधी की, गांधी समाजवादी विचारधारा से विपरीत क्यों हैं, इसे और थोड़ी गहराई में जाकर समझ लेने की जरूरत है। गांधी हरेक व्यक्ति को पूरी तरह कुसुमित हुआ देखना चाहते हैं। हरेक मानव अपने आप में निहित समस्त शक्तियों को पूर्ण विकसित कर पाने का अवसर प्राप्त करे तब अपने आप सर्वोदय यानी समूह और समाज का कल्याण होगा, ऐसा उनका अनुमान है. किसी विपरीत अवस्था का सामना करने के लिए व्यक्ति को सत्याग्रह का आश्रय लेना चाहिए, ऐसी गांधी की दृढ़ मान्यता है.

यहां से आधुनिक अर्थशास्त्र के मार्ग से गांधी अलग हो जाते हैं क्योंकि उन्हें 'आर्थिक मानव' का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नही है. 'आर्थिक मानव' खंड दर्शन का प्रतिनिधि है. वह मूल्य निरपेक्ष होने का दावा करते हुए भी छद्म रूप से ऐसे मूल्यों का आह्वान करता है, जो मानव समाज के विनाश का सामान जुटा सकते हैं. आधुनिक अर्थशास्त्र इस समस्या से परिचित तो है पर उसे वह अपने शास्त्र की न तो देन मानता है और न ही उससे सीधे द्वंद्व में उतरना चाहता है. गांधी की भूमिका यहां स्फटिक की तरह स्वच्छ है. वे किसी ऐसे अर्थशास्त्र को मान्यता देने को तैयार नहीं होते, जिसमें नीतिमत्ता के सिद्धांत संकलित न होते हों. इसका कारण यह था कि अपने समय में पश्चिमी समाज के जिस आर्थिक विकास को उन्होंने देखा, वह उन्हें मानव के संपूर्ण विकास के साथ सुसंगत होता हुआ नहीं लगा.

बीसवीं सदी के आरंभ तक पश्चिमी सभ्यता के जो लक्षण गांधीजी को दिखे और उन्होंने जो समझा, उसका बयान उन्होंने 'हिन्द स्वराज' में किया. उनका मुद्दा यह था कि पश्चिमी संस्कृति के मानव का मूल लक्ष्य शरीर सुख और भौतिक सम्पन्नता हासिल करना है. इसलिए पश्चिमी समाज में लोभ, स्वार्थ, असंतोष और अंहकार स्थापित होते चले गये. एक तरह से कहें तो पश्चिमी समाज ईमानधर्म से च्युत हो गया.

गांधीजी को यह दिख रहा था कि इस भौतिक संपन्नता को हासिल करने की कोशिशों में व्यक्ति और देश हिंसा में लिप्त हो जायेंगे और मानवता खतरे में पड़ जायेगी. संपत्ति कमाने वाला कमाने के बाद प्यार से सभी में बांट देगा, ऐसा तो नहीं होगा फिर वो चाहे व्यक्ति हो या देश. तब छीना-झपटी शुरू होगी, मारकाट होगी अथवा पैंतरे रचे जायेंगे, देशों के बीच युद्ध होगा, और यह सब तो होता आया है. साधन और साध्य के बीच विसंगतता खड़ी होगी। गांधीजी कहते हैं कि सभ्यता वह आचरण है, जिससे आदमी अपना फर्ज अदा करता है. फर्ज अदा करने का अर्थ है नीति का पालन करना. नीति के पालन का मतलब है अपने मन और इन्द्रियों को बस में रखना. ऐसा करते हुए हम अपनी असलियत को पहचानते हैं, यही सभ्यता है. इससे जो उल्टा है, वह बिगाड़ करने वाला है. इस सभ्यता को हासिल करने का मंत्र क्या है? गांधीजी यह दर्शाते हैं कि भारत ने सदियों से इसी रास्ते को अपना कर पूरी दुनिया को यह राह दिखायी है कि अहिंसा से समाज का निर्माण हो सकता है. उसके किये आत्मबल या प्रेमबल को सबल बनाना होगा.

अहिंसा और अर्थशास्त्र के संबंधों को ढूंढ़ने की शुरुआत धर्म से करते हुए कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हमने पाया कि हिन्दू शास्त्रों में अर्थशास्त्र को अलग पहचान मिली है और शरीरधर्म निभाने के लिए उसका महत्व भी ऊंचा ही आंका गया है. भौतिक सुख चाहे अमर्यादित मात्रा में आया पर, यह चिरंजीवी नहीं रहा. हिंसा बढ़ी और समाज नष्ट हुए. कौटिल्य स्वयं इन सभी विधाओं की चर्चा करने के पश्चात यह तो स्वीकार करते हैं कि समग्र दर्शन का अर्थशास्त्र चारों विधाओं की संयुक्त समझ से ही बनता है, परंतु आर्थिक व्यवहारों के शास्त्र, दंडनीति (चाहे वह मृदु दंडनीति ही क्यों न हो) को आवश्यक मानते हैं. इस तरह सभी विद्वान शरीर धर्म निभाने की आड़ में भौतिक दुनिया के दास बन जाते हैं. गांधीजी यहां अपनी अलग जगह बनाते हैं.

गांधी विचार में अहिंसा के मूल्य पर आधारित अर्थशास्त्र का ध्येय आर्थिक समानता हासिल करना है. गांधीजी विचार देकर चुप नहीं रहते. उस दिशा में जाने का तरीका भी बताते हैं. पहला कदम यह कि जिस व्यक्ति ने इस आदर्श को अपनाया हो वह अपने जीवन में आवश्यक परिवर्तन लाये. देश के गरीबों से अपनी आर्थिक स्थिति की तुलना कर अपनी ज़रूरतें कम करे. अपनी धन कमाने की शक्ति को अंकुश में लाये. जो धन कमाना है, वह ईमानदारी से कमाये. सट्टेबाज हो तो उसे तुरंत बंद करे. जीवन को संयमी बनाये. अगर ऐसा करने में वह ठीक-ठीक सिद्ध हो जाये तो अपने पड़ोसी और हितेच्छुओं को इस मार्ग पर लाने का यत्न शुरू करे.

आर्थिक समानता के मूल में ट्रस्टीशिप की भावना है. उत्पादन और वितरण दोनों ही में इसी भावना से कार्यरत रहना होगा. व्यवस्था तो बाज़ार की ही रहेगी पर इस बाज़ार में प्रवेश करने वाला व्यक्ति उपभोक्ता और उपभोगी के रूप में क्रमशः ट्रस्टी और संयमी की भूमिका में प्रवेश करेगा तो अर्थव्यवस्था का ढांचा ही ऐसा बनेगा कि वह नीतिमत्त और अहिंसक होगा.

अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि अहिंसा और अर्थशास्त्र की तात्विक चर्चा के स्तर पर गांधी इस देश की मूल संस्कृति के आधार वेद विद्या के मूल्यों का आह्वान करते हैं. उनके मन और विचार में सर्व कल्याण की भावना है. सर्व का अर्थ यहां व्यक्ति, समष्टि और प्रकृति है. यह तो वेदज्ञान से मिलता है. गांधी, महावीर और बुद्ध के धर्मोपदेश में निहित नीतिवान आर्थिक व्यवहार की बात तो रखते ही हैं, पर उससे आगे जाकर उसके व्यवहारिक पक्ष को भी अच्छी तरह उजागर करते हैं. मानव समाज ने सर्व के कल्याण व भौतिक व्यवहारों के लिए जो अर्थशास्त्र विकसित किया, उसमें व्यक्ति स्वातंत्र्य के आधार पर मुक्त बाज़ार की कल्पना को बढ़ावा देकर पूंजीवादी व्यवस्था खड़ी की. जब उससे सर्व कल्याण नहीं होता नज़र आया तो मार्क्स के विचारों के आधार पर राज्य को कमान सौंपी और साम्यवाद पनपा. परंतु उससे भी सर्व कल्याण का ध्येय हासिल नहीं हुआ तो फिर से एक बार मुक्त बाज़ार और पूंजीवाद की ओर विकास लोलक को पहुंचा दिया है. पर यह तो एक बार पहले ही मात खा चुका है. मूल समस्या का हल तंत्र में नहीं, व्यक्ति के मूल्यों और उस पर आधारित व्यवहार में है. गांधी इस दिशा में मार्गदर्शन देते हैं, पर अहिंसा के इस अर्थशास्त्र को देख पाने की दृष्टि बहुमत समाज में अभी नहीं आ पायी है, ऐसा प्रतीत होता है. ❑

गांधी ओडिसा-100 अभियान

1921 के मार्च महीने में पंडित गोप बंधु दास की अगुवाई में पहली बार गांधी जी ओडिशा आए थे। अब गांधी ओडिशा आगमन की शताब्दी के अवसर पर साल भर राज्य के स्कूल कालेजों में गांधी जी पर कार्यक्रम होने का तय हुआ है। इस मौके पर एक पत्रकार वार्ता हुई थी।

गांधी ओडिशा-100 अभियान की संयोजिका डॉ. रीना राउत राय होंगी। साल भर के लिए तय हुए कार्यक्रमों में गांव गांव में पदयात्रा, स्कूल कालेज में गांधी विचार का व्याख्यान, गांधी सभा स्थल पर पुतला लगाना और ज्यादा से ज्यादा युवा साथियों को गांधी विचार में शामिल करने का कार्यक्रम बनाया गया है। इसके साथ इस अभियान के लिए एक लोगो भी जारी किया गया।

डॉ. रीना ने अपने वक्तव्य में बोला कि गांधी जमात के लोगों को गांधी कार्यक्रम को भरपूर सहायता देना चाहिए। देश और विदेश में गांधी के आदर्श पर बहुत से कार्यक्रम होते हैं। लेकिन हमारे भारत में गांधी का काम इतना नहीं होता है, इसलिए युवा शक्ति को संतुलित मात्रा में गांधी मार्ग पर लाने की हमारी कोशिश है।

गांधी ओडिशा 100 कमिटी के अध्यक्ष विशिष्ट शिक्षाविद् डॉ भगवान प्रकाश ने अपनी बातचीत में ओडिशा में एक गांधी भवन बनाने का जिक्र किया है। गांधी भवन भारत के दूसरे राज्यों में हैं और गांधी पर कार्यक्रम बनाके युवाशक्ति को आकर्षित करते है। ओडिशा गांधी का प्यारा राज्य था। 1921से 1946 तक 25 साल के अंदर गांधी ने 8 बार ओडिशा का दौरा किया है।

× × ×

ओडिशा के गांधीजनों की विधान सभा में गांधी सत्र और गांधी भवन बनाने की मांग

गांधी के आवाहन पर ओडिशा के तत्कालीन मुख्यमंत्री नवकृष्ण चौधुरी राजनीति छोड़कर सर्वोदय काम में आजीवन लग गए है। ओडिशा के नैसर्गिक उत्पात में पीड़ित लोगों के लिए गांधी ने सहायता के हाथ बढ़ाए थे और स्वाधीनता संग्राम में ओडिशा के लोगों के योगदान ने उनको अभिभूत किया था।

राजनीति अब धूमिल होती जा रही है। किसी जमाने में गांधी की बात और हर कर्म लोक का कार्यक्रम बन गया था। लेकिन अब दुनिया में जो हो रहा है, उससे आप सब वाकिफ़ हैं। इसलिए गांधी ओडिशा-100 अभियान के तहत ओडिशा के राज्यपाल को निवेदन किया जाएगा कि गांधी पर विधान सभा में एक सत्र चलाया जाए, जिसमें सारे सदस्य भाग लेकर चर्चा करें और गांधी के दिखाए हुए मार्ग पर अपना राजनीतिक व्यवहार करें।

पत्रकार सम्मेलन में गांधी ग्लोबल फैमिली के राष्ट्रीय अध्यक्ष मनोज जेना ने कहा कि गांधी विरोधी आबोहवा से कुछ दिन बाद लोग गांधी को याद नहीं करेंगे। इसलिए हमको कुछ खास कार्यक्रम करना जरूरी हो गया है।

गांधी कर्मी सेवानिवृत्त सैनिक रमेश महापात्र ने पुरी धाम से कटक तक एक पदयात्रा का प्रस्ताव रखा और पिपिली में गांधी की एक प्रतिमा लगाने का सुझाव भी दिया।

सर्व सेवा संघ के मंत्री गौरांग भाई महापात्र ने पत्रकार वार्ता में कहा कि सर्व सेवा संघ ने गांधी वार्ता प्रचार और प्रसार के लिए गांधी तत्व प्रचार समिति बनाई है। इस समिति में योग्य गांधीवादियों को शामिल किया गया है। यह समिति देश भर का दौरा करेगी। गांधी ओडिशा-100 कार्यक्रम को सर्व सेवा संघ अपना सहयोग देता रहेगा।

सुप्रीमकोर्ट के वरिष्ठ एडवोकेट सुवास महापात्र ने जरूरत मंद को न्याय दिलाने का कार्यक्रम भी अभियान के तहत करने का प्रस्ताव रखा।

-गौरांग महापात्र, *मंत्री, सर्व सेवा संघ*

गांधी व्याख्यान माला का समापन

उन्नाव सर्वोदय मण्डल का 'क्या गांधी को भुला देना चाहिए' नामक विषय पर आयोजित 'गांधी व्याख्यान माला' शृंखला का चौथा और अंतिम कार्यक्रम मैचलेस विद्या मंदिर आदर्श नगर, उन्नाव में सम्पन्न हुआ. इस अवसर पर संस्था के वर्तमान अध्यक्ष नसीर अहमद, पूर्व जिला अध्यक्ष रामशंकर भाई, मैं रघुराज सिंह 'मगन', कालेज के प्रधानाचार्य और शिक्षकगण मौजूद रहे.

बच्चों ने उत्साह पूर्वक कार्यक्रम में भाग लिया, प्रश्न पूछे और संतुष्ट होने पर प्रसन्नता भी प्रगट की. अंत में विजयी बच्चों को सम्मानित किया गया. इसमें अधिकांश बच्चों ने गांधी को नही भुलाना चाहिए पर ज़ोर दिया और अपने तर्क दिए, दो छात्राओं ने अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए कहा कि जब कोई गांधी को मानता ही नहीं तो उन्हें भुला ही देना चाहिए.

एक लड़के ने दोनों पक्षों पर बात की. बाद में जिन बच्चों ने वक्तव्य नही दिया था उनसे जब हमने पूछा कि कितने लोगों को ऐसा लगता है कि गांधी को भुला देना चाहिए तो आठ बच्चों ने हाथ उठाए, उन सबसे हमने वजह पूछी और उनके संदेहों को साफ़ किया तो वे समझ गये। फिर जब हमने उनकी प्रतिक्रिया जानी तो उन्होंने कहा कि हम ग़लत थे.

नसीर अहमद और रामशंकर भाई ने भी अपने विचारों से बच्चों को अभिसिंचित किया.

-रघुराज सिंह 'मगन'

सर्वोदय दिवस पर श्रमदान

गांधी स्टडी सर्कल द्वारा सर्वोदय दिवस एवं सर्व सेवा संघ की स्थापना दिवस के अवसर पर कार्यक्रम का आयोजन किया गया। प्रातः गांधी शांति प्रतिष्ठान के आजीवन सदस्य अशोक चौधरी ने सर्व धर्म प्रार्थना, नाममाला व गांधीजी के भजन का पाठ कराया। तत्पश्चात सभी ने पार्क व स्मारक पर साफ सफाई की, पक्षियों के लिए पानी भरा तथा पार्क में लगे पेड-पौधों को खाद व पानी दिया। डॉ. संतोष छापर ने सर्व सेवा संघ की स्थापना, उद्देश्यों, कार्यों की जानकारी देते हुए कहा कि सर्व सेवा संघ देश में गांधी विचारों पर कार्य करने वाला सबसे बड़ा संगठन है, जिसकी स्थापना संत विनोबा के हाथों हुई। इसके लाखों कार्यकर्ता देश में रचनात्मक कार्य कर रहे हैं। सर्वोदय मित्र राधिका ने कहा कि भारत के वें सभी नागरिक, जो गांधी विचार में रूचि रखते हैं, वे सर्वोदय मित्र बनकर सर्व सेवा संघ से जुड़ सकते हैं। कार्यक्रम में नारायण राम, बंशीलाल, गणपत पटेल, राजू, कुमार प्रेम सहित कार्यकर्ताओं की भागीदारी उत्साहवर्धक रही।

-अशोक चौधरी

'Sarvodaya Jagat' Hindi Fortnightly
Registered under RNI No. 35495/78, Postal Registration No. VSI-(E) 04, Valid upto 31 December 2023
Issued by S.S.P.O. Varanasi (East Division)

प्रिया वर्मा की चार कविताएं

(1)

तन्वंगी सुबह में आ कर सूर्य
गुनगुनी किरणों से गुदगुदी करता है,
सहलाता है,
बन्द पलकों को रोशनी से चूम लेता है

बहुत बार तुम नहीं जागते
शिशुवत् कुनमुनाते हो,
फिर से सो जाते हो
मीठी नींद का मोह नहीं त्यागते

तुम जागते हो,
जब मुँहजोर होता है दिन
पसीने से तर-ब-तर, गरमी से बेहाल
वैशाख की दोपहर का सूरज जब अपनी
प्रचण्डता के साथ तुम पर
हावी हो चुका होता है

समकालीन हिंदी भाषा में
स्त्री की कविता के स्वर को, अब तुम
वैशाख की दोपहर का सूरज ही मानो.

(2)

मुझसे पूछे बिना
किसी सत्ता ने मुझे धकेल दिया
रक्त से भरे नन्हे समुद्र में
जहाँ मांस के लोथड़े से पनपती रही
मछली की बुनियाद पर
भरण पोषण में भान नहीं था कि मैं मछली
नहीं होऊंगी,
मैं इंसान होने जा रही हूँ

मैं निकल आऊंगी बाहर तब मेरे भीतर भी
हिलोरे ले रहा होगा आवेग का ऐसा समुद्र कि
मैं बदल कर रख देना चाहूंगी हर एक को
अपने हिसाब से

रोटी, तेल और नमक के संघर्ष में मैं किसान
तो हो नहीं पाऊंगी
नहीं जानती थी कि पानी और आग के लिए
मैं एक औरत हो कर बाहर आऊंगी

माना कि
चुनने की कोई आज़ादी नहीं है
बाकियों की तरह
पर एक बात है जो बात ही बात में कुकुरमुत्ते
सी मेरे भीगे हुए मन में उग आई है
कि इतनी आज़ादी तो महसूस होनी चाहिए
कि जहाँ सवाल दूसरे से नहीं, अपने आप से
किया जा सकता हो.

बेशक़ बिना मरे,
मैं इस दलदल से निकलने में हार जाऊँगी
पर मैं ख़ुद को किसी दलील से बचाए बिना
हर प्रश्नचिन्ह पहले ख़ुद पर लगाऊंगी

शायद तब, औरत से पहले,
एक इंसान कहलाऊंगी.

(3)

मैं जिन्हें दूर से देख रही हूँ,
वे स्त्री की वंशजाएं हैं नाम से,
दरअसल, वहाँ स्थापित शिलाएं हैं

पत्थर के बने उनके मन में वे अपने तर्क रखती हैं
वे अपने स्तम्भ ख़ुद तय करती हैं

भले ही
सामाजिक दृष्टि में गणना में कहीं नहीं आतीं वे
मगर शयन आरती के बाद से लेकर मंगलाचरण तक
जब गर्भगृह के कपाट बंद हो जाएंगे, तब,
समवेत स्वर में ये देहें उद्दंड हो जाएंगी
आपस में गले लगकर उन्मुक्तता से हँसेंगी,
गीत गाएंगीं।

अपने दुःखों के कोरस गीत गाएंगीं
परंपरागत परिक्रमाएं करेंगी
सुबह होते ही संसृति में जम कर
फिर से गाढ़ी हो जाएंगीं

एक और कल आएगा, जिसके साथ
रक्त सभ्यता स्त्री के लिए
थोड़ी और बहरी हो जाएगी.

(4)

सुंदरता पर लिखी परिभाषाओं को लिखने की
स्याही जिस दिन ख़त्म हो जाएगी

एक प्रभात होगा,
और पानी की सतह पर रोशनी की बूंद सा
पूरा युग फैल जाएगा

जो घना होगा, रसातल तक पैठ बनाएगा
पारिस्थितिकी में चुटकुलों में
जहाँ-जहाँ शीर्ष होगा
वहाँ-वहाँ मौन पसर जाएगा

पत्नी के रूप में उन पर बिछी रही अभी तक
पौरुष के मनोरंजन की बिसात
जहाँ प्यादा बनकर ही रह सकती थीं
वे चुनती थीं रंग बगीचे के गुलाबों के साथ
तुम्हारे मोजे और रूमालों के, वे चुनती थीं कि
उन्हें तकिया होना है या तौलिया
पायदान होना है या बिछौना

वे घरों में इस्तेमाल होने के लिए सजा धजा
कर लाई गईं,
जिस दिन उन्हें भनक लग जाएगी,
वे दरवाज़ों में बदल खुद ही
अपना रास्ता हो जाएंगीं
हँसी की अपनी भाषा में खिलखिलाएँगी
वे स्त्रियाँ,
जिन्हें तुम असुन्दर कहकर दुत्कार देते रहे

त्याग देंगीं तुम्हारे बनाए कानून
तुम्हारे पेंचों पर, कसे क़ायदों पर
उनके लिए गढ़े विशेषण
अपने पांव धोकर करेंगी
एक नया गृह-प्रवेश

परिमार्जन की लड़ाइयों में उतरेंगीं
वे योद्धाओं सी
कल्पनाओं में दशरथ मांझी के हाथों
अपना स्वर्ग गढ़ने के लिए नहीं छोड़ेंगी
बालिश्त भर भी जगह
वे पहचान लेंगी कि क़ैस, रांझे और
फ़रहाद के किस्से किस तरह की
प्रयोगशाला में ईजाद किए गए हैं

उस दिन, तराजू में एक पलड़ा भारी होगा
उस दिन सुंदरता के मानकों का
सच उजागर होगा

और आधे पेट से अघाई,
धूप और भूख से स्याह हुई स्त्रियां
ब्यूटी सैलून, स्लिमिंग सेंटर्स के सामने
लाकर पलटेंगी
सौंदर्य प्रसाधनों से लकदक अलमारियां
वे बिना कद काठी रंग रूप आभूषण देखे
परस्पर हाथ थाम लेंगीं
स्वीकार लेंगी तुम में छिपे कुटिल स्त्रीद्वेष को
अपने स्त्रीत्व के बोध में उस दिन वे नया
जौहर खेलेंगीं
वे अपनी मुक्तिदाता
आप हो जाएंगीं. ❑

सर्व सेवा संघ (स्वत्वाधिकारी) के लिए प्रकाशक अरविन्द अंजुम द्वारा सर्व सेवा संघ परिसर, राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.) 221001 से प्रकाशित तथा महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित। संपादक : बिमल कुमार